卐

[पावन भावना]

दर्शन विशुद्धि और विनय सम्पन्नता

प्रवक्ता :
अध्यात्म वेदी बाल ब्रह्मचारी श्री प्रद्युम्न कुमार एम०ए०
श्री पार्श्वनाथ दि० जैन शान्ति निकेतन (उदासीनाश्रम)
ईसरी बाजार, जिला गिरीडीह (बिहार)

प्रकाशक :
दिगम्बर जैन समाज
कैराना (मु०नगर) उ०प्र०

[मूल्य २)५०

—: प्रकाशकीय समाज की ओर—से दो शब्द :—

हम कैराना वासियों के सौभाग्य से अध्यात्म रत्न ब्रह्मचारी पूज्य श्री प्रद्युम्न कुमार जी एम० ए० का चातुर्मास इस वर्ष यहाँ हुआ। चातुर्मास के भाद्र पद मास में 'सोलह कारण भावना' में से प्रथम 'दर्शन विशुद्धि' व द्वितीय 'विनय सम्पन्नता' नामक दो पवित्र भावनाओं पर आपने प्रवचन दिये। उन्हीं का संकलन प्रस्तुत प्रकाशन में है। प्रवचन अध्यात्म शैली की पद्धति वाले होकर भी सरल, रोचक और सारगर्भित हैं।

पूज्य ब्रह्मचारी जी की इस कृति के विषय में अधिक क्या लिखें— प्रवचनों के पढ़ने से ही आपकी उत्कर्षशील आत्म साधना और विद्वतता का पता पड़ जायेगा। निश्चय और व्यवहारनय की पद्धति से आपने दोनों भावनाओं का सांगोपांग विवेचन किया है। 'दर्शन विशुद्धि' में सम्यग्दर्शन का स्वरूप, उसकी महत्ता, आठ अंग और २५ दोषों का निरुपण करके निर्मल सम्यग्दर्शन को धारण कर जीवन को पवित्र बनाने की प्रेरणा दी। इसी प्रकार 'विनय सम्पन्नता' में मानव व्यक्तित्व के समग्र विकास के लिये विनय की अनिवार्यता को सिद्ध किया। प्रवचनों के पढ़नेसे ही शान्ति मिलती है फिर जो तदनुसार परिणमन करे उसके अपूर्व आनन्द लाभ को वही जाने।

आपके द्वारा उपदिष्ट 'दस लक्षण धर्म प्रवचन' और भ० महावीर के उपदेश' नामक पुस्तकें भी इसके पूर्व प्रकाशित हो चुकी हैं। आपने ४० दिन का एक धर्म शिक्षण शिविर भी यहां लगाया जिसमें स्त्री पुरुषों व बच्चों को धार्मिक ज्ञान का अभूत पूर्व लाभ प्राप्त हुआ। इस प्रकार साहित्य सम्वर्द्धन शिक्षण शिविर और उपदेशों के माध्यम से आप द्वारा जो धर्मोद्योत हो रहा है वह अनुकरणीय है।

सोलह कारण भावना से तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता है, जो स्व-पर कल्याण करते हुए निश्चय मोक्ष प्रदाता है। इसमें दर्शन विशुद्धि भावना अनिवार्य और प्रधान है, इसी उपयोगिता को ध्यान में रखते हुये यह प्रकाशन किया गया है। भाई रोशन लाल जी J. E. बड़ौत वालों ने प्रेस की व्यवस्था कर प्रकाशन शीघ्र करा देने में तत्परता से काम लिया। अतः आप धन्यवाद के पात्र हैं। आशा है कि स्वाध्याय प्रेमी पाठक इस कृति से स्वयं तो लाभान्वित होंगे ही, साथ ही प्रस्तुत रचना का व्यापक प्रचार व प्रसार भी करेंगे।

दि० जैन समाज

कैराना (मु० नगर) उ०प्र०

बाल ब्र० श्री प्रद्युम्न कुमार जी का संक्षिप्त परिचय

श्रद्धेय बाल ब्र० प्रद्युम्न कुमार जी का जन्म टिकरिया ग्राम जिला हमीरपुर (उ० प्र०) में धर्मानुरागी श्री प्यारे लाल जी के यहाँ विक्रम सम्वत् २००० आश्विन कृष्णा १५ का हुआ। स्वनामधन्या श्रीमती कस्तूरी बाई जी आपकी मातेश्वरी हैं। आपके पिता जी हरपालपुर में कपड़े का काम करते थे परन्तु अब बहुत वर्षों से आजीवन ब्रह्मचर्य व्रती आपकी साध्वी माता एवं धर्म मुमुक्षु पिता उदासीनाश्रम ईसरी में धर्म साधनार्थ रहने लगे हैं।

आपके छोटे और बड़े दोनों भाई डाक्टर हैं परन्तु पू० ब्रह्मचारी जी को तो जन्म मरण के रोग का चिकित्सक बनना था अतः सागर विश्वविद्यालय से अंग्रेजी में M. A की डिग्री प्राप्त करके भी आपने कुटुम्बियों के स्नेह पूर्ण संसार प्रवेश आग्रह को अमान्य करके सन् १९६३ में अपने पूज्य गुरुवर्य श्री १०५ क्षु० सहजानन्द जी वर्णी महाराज से आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत एवं दूसरी व्रत प्रतिमा के साथ ही धार्मिक शिक्षा भी प्राप्त की।

आपने एक वर्ष राजकीय विद्यालय में अध्यापन का कार्य भी किया परन्तु वह भी छोड़कर आप उदासीनाश्रम ईसरी पहुंचे वहाँ जैनागम का प्रगाढ़ अध्ययन और अध्यात्म विषय में गहन पाण्डित्य प्राप्त किया। आप ईसरी आश्रम के उपाधिष्ठाता भी रहे।

आपके अन्तस्तल में जैन तत्वज्ञान के प्रचार व प्रसार की जो पवित्र आकांक्षा जाग्रत हुई है उसे आप अपनी सरल व सुबोध भाषा, धारा प्रवाह शैली व सरस प्रसंगों के समावेश व मनोरंजक दृष्टान्तों से युक्त वक्तृत्वकला के माध्यम से सम्पन्न करने में सफल हो रहे हैं। इसी प्रकार कठिन व गूढ़ तत्व ज्ञान को सरलतम शैली में समझाने के उद्देश्य से आपका लेखन व प्रकाशन भी एक सराहनीय प्रयास है। आपने नागपुर, रामपुर-मनिहारान और कैराना के चातुर्मासिक प्रवास में तथा जबलपुर, सहारनपुर, बड़ौत, सिरसागंज आदि स्थानों में भ्रमण कर जो धर्मोद्योत किया उसमें कितने ही गृहस्थ स्त्री पुरुषों, नवयुवकों व बालक बालिकाओं ने तत्व ज्ञान पूर्वक संयम व त्याग के मार्ग पर अग्रसर होने की प्रेरणा प्राप्त की।

आपकी आत्मा वैराग्य से ओत प्रोत है ज्ञानार्जन और तत्व चिंतना में उपयुक्त रहकर आत्मशुद्धि का यत्न आपका स्तुत्यनीय है, अधिक क्या लिखें 'होनहार बिरवान के होत चिकने पात' की कहावत के अनुसार आपके सम्बन्ध में सबका कहना है कि आप हमारे तीसरे वर्णी जी हैं। ऐसे विद्वान आदर्श त्यागी, यशस्वी, लेखक व वक्ता तथा परोपकारी सन्मार्ग प्रवर्तक पू० ब्रह्मचारी जी के जीवन से सब प्रेरणा प्राप्त करें व श्रद्धेय ब्रह्मचारी जी का शुभाशीर्वाद समाज पर सदैव रहे ऐसी शुभकामना है।

रोशन लाल जैन J. E.
उजाला बल्ब फैक्ट्री बड़ौत
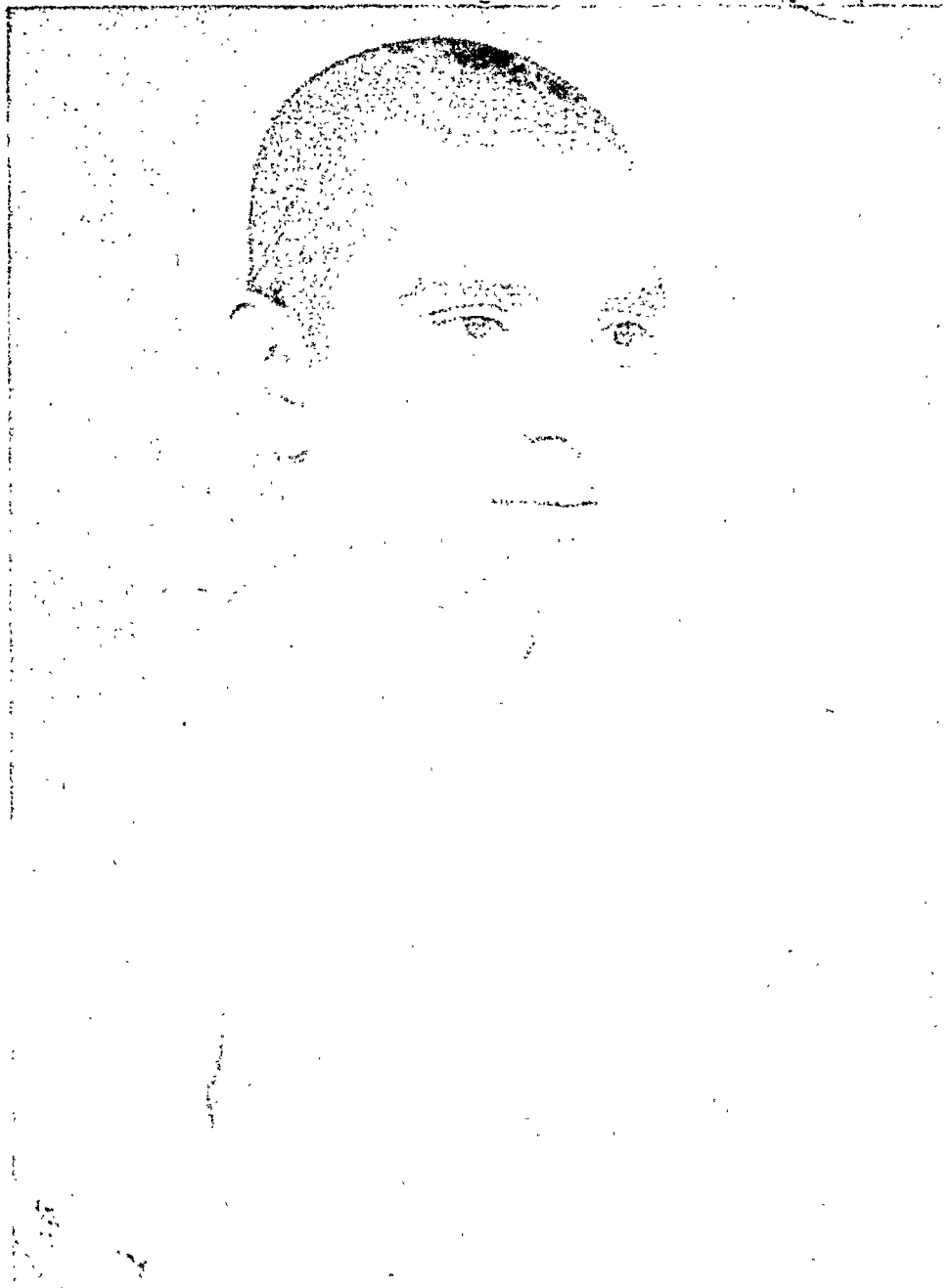
बाल ब्रह्मचारी प्रद्युम्न कुमार एम० ए०

सोचो जिसके पूजन में देवेन्द्र, चक्रवर्ती नारायण आदि महा-पुरूष भी पहुँचे, जिनके उपदेश को सुनकर अपने को कृतार्थ मानें, जिसे तीन लोक के १०० इन्द्र नमस्कार करें वह पद होता है तीर्थंकर का। तो वैभव तो तीर्थंकर का बड़ा है लोक में तीर्थंकर से बड़ा वैभव किसी का नहीं माना जाता है। वैभव के साथ सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे धर्म तीर्थ के विशेष नेता होते हैं। तीर्थ की प्रवृत्ति वे करते हैं। यद्यपि धर्म का प्रवाह अनादिकाल से परम्परा से चला आ रहा है फिर भी जब-जब धर्म की हानि होती है, ग्लानि होती है उस-२ समय में तीर्थंकर जैसे महान पुरूष उत्पन्न होते हैं और वे धर्म-तीर्थ की प्रवृत्ति करते हैं।

तीर्थंकर की विशेषता:—

तीर्थंकर प्रभु नियम से निर्वाण को प्राप्त होते हैं और जब तक वह निर्वाण को प्राप्त नहीं हुये तब तक उनकी चर्या, मुद्रा, ध्वनि उपदेश आदि के द्वारा लोगों का महोपकार होता है। आज जितना भी हम धर्म का प्रकाश पाये हैं इस सम्पूर्ण आत्म प्रकाश के मूल हैं तीर्थंकर प्रभु। ये जीवों के शरणभूत भी होते हैं। तीर्थंकर कौन होता है कैसे होता है ? वे कौन से परिणाम हैं जिन परिणामों के प्रसाद से तीर्थंकरत्व होता है यहाँ उन परिणामों का वर्णन किया जा रहा है। वे परिणाम १६ कारण भावना के नाम से प्रसिद्ध हैं। उनमें से प्रथम भावना है दर्शन विशुद्धि।

तीर्थंकर प्रकृति के बंध के आरम्भक की शर्तें:—

तीर्थंकर प्रकृति के बंध का आरम्भ कर्म भूमि का मनुष्य पुरुष लिंगधारी ही करता है। अन्य तीन गति वाला जीव आरम्भ

नहीं करता और इसका बंध केवली और श्रुत केवली के चरणारविंद के समीप ही होता है। केवली द्वय की निकटता के बिना तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध के योग्य भावना की विशुद्धि नहीं होती और इस प्रकृति का बंध प्रथमोपशम सम्यक्त्व, द्वितीयोपशम, क्षायोपशमिक और क्षायिक इन ४ सम्यक्त्व में से किसी एक में होता है और चतुर्थ गुण स्थान से लेकर सप्तमगुणस्थान पर्यन्त तक के कोई भी जीव तीर्थंकर प्रकृति का बंध कर सकते हैं। जैसा कि गोम्मटसार कर्मकान्ड में कहा है—

पढमुवसमिये सम्मे शेपतिये अविरदादि चत्तारि।
तित्थयरबंध पारम्भया णरा केवली दुगंते॥

पांच, तीन और दो कल्याणक वाले तीर्थंकर:—

जिसके तीर्थंकर प्रकृति बंधती है वह प्राणान्त करके ऊँचा वैमानिक देव हुआ करता है और देव से चयकर वह उत्तम मनुष्य होता है वहाँ उसके गर्भ, जन्म, दीक्षा, ज्ञान और निर्वाण ये पंचकल्याणक उत्सव होते हैं। जब केवल ज्ञान हो जाता है तब तीर्थंकर प्रकृति का उदय होता है। धर्म की प्रवृत्ति उच्च देशना ये सब समारोह होते हैं। भरत और ऐरावत क्षेत्र में पाँचकल्याणक वाले तीर्थंकर ही होते हैं परन्तु विदेह क्षेत्र में पांचकल्याणक वाले भी होते और ३ व २ कल्याणक वाले भी होते। कोई साधारण मनुष्य ही बड़ा हुआ उसके किसी भी समय गृहस्थ अवस्था में ही १६ कारण भावनाओं के भाने से तीर्थंकर प्रकृति का बंध हो जाये और उस ही भव में उसका उदय आ जाये तो उस तीर्थंकर के गर्भ और जन्म ये दो कल्याणक तो नहीं हो सके किन्तु तप, ज्ञान और निर्वाण कल्याणक होते हैं, यों केवल तीन ही कल्याणक समारोह हुये। कोई पुरूष

मुनि हो जाये तब भी तीर्थंकर प्रकृति का बंध नही था मुनि अवस्था में तीर्थंकर प्रकृति का वंध हुआ तो उसके अब दो कल्याणक ही होंगे। दीक्षा तो पहले ही ले चुका सो तप कल्याणक तो मनाया नहीं जा सकता। उसके अब ज्ञान और निर्वाण ये दो ही कल्याणक होंगे।

तीर्थंकर के दुर्गति निराकरणताः-

१६ कारण भावनायें जिसके होती हैं वह नियम से तीर्थंकर होकर तीसरे भव निर्वाण को प्राप्त होता है। संसार समुद्र से तिर जाता है और जब तक संसार में रहता है तब तक भी वह कुगति को प्राप्त नहीं होता, सौधर्म स्वर्ग को आदि लेकर सर्वार्थ सिद्धिपर्यन्त अहमिंद्रों में उत्पन्न होकर फिर तीर्थंकर होय निर्वाण पाता है। हां मिथ्यात्व के परिणाम में किसी ने नरकआयु का बंध कर लियो फिर केवली श्रुतकेवली का शरण पाय सम्यक्त्व ग्रहणकर १६ कारण भावना भाय तीर्थंकर प्रकृति बांधी तो ऐसा जीव उस भव में नरक में जाय और फिर नरक से निकल तीर्थंकर होय निर्वाण को प्राप्त होय है। जाके तीर्थंकर प्रकृति का बंध हो जाये सो भवनत्रिक देवनि में, अन्य मनुष्य तिर्यन्चन में, भोगभूमि में, स्त्री नपुंसक वेदियों में, ऐकेन्द्रिय, विकलचतुष्कादि पर्यायों में उत्पन्न नहीं होता है और तीसरे नरक तैं नीचे उत्पन्न नहीं होता है। इसी कारण से षोड़स कारण भावना कुगति का निराकरण करने वाली है, और मोक्ष का कारण है, अतः ये भावना समस्त पाप का क्षय करने वाली भावनि के मल को नष्ट करने वाली, श्रवण पठन करते संसार का वंध छेदने वाली निरन्तर भावने योग्य हैं,। पूजन में अपन प्रतिदिन पढ़ते ही हैं :-

षोड़श कारण गुण करै, हरै चतुर्गति वास ।
पाप पुण्य सब नाश के, ज्ञान भानु परकास ।।

अथवा

ये ही सोलह भावना, सहित धरै व्रत जोय ।
देव इन्द्र नर वंद्य पद, "द्यानत" शिव पद होय ।।

दर्शन विशुद्धि :—

सम्यग्दर्शन होने पर जो एक विलक्षण अलौकिक विशुद्धि उत्पन्न होती है उसका नाम है दर्शन विशुद्धि । केवलि श्रुतकेवली के निकट उन केवलीद्वय प्रभु के गुणों का साक्षात परिचय पाता हुआ यह सम्यग्दृष्टि पुरुष अपने में सुगम स्वाधीन आनन्द का अनुभव पाने के कारण जगत के जीवों पर जब दृष्टि देता है तो उसे एक परम करूणा उत्पन्न होती है ।

अपार करूणा :—

अहो ज्ञान और आनन्द स्वभाव वाले ही तो सकल जीव हैं परन्तु अपने इस ज्ञान और आनन्द स्वरूप पर दृष्टि दिये विना और पर पदार्थ और परभावों में एकत्व बुद्धि करने से ही तो यह दुःखी बन रहा है देहों को धारण करता है और नाना प्रकार के कर्मों के भार को लादे फिरता है संकल्प विकल्प में फंसकर अपना विपरीत परिचय कर रहा है । सही दृष्टि और वस्तु स्वरूप के परिज्ञान विना सारा क्लेश जाल सह रहा है यह जीव । यह सदबुद्धि पाये,स्वयं मेंस्वयं की ओर मुड़े तो इसके क्लेश दूर हों, ऐसी अपार करूणा होतीहै और इसके साथ अन्य भी यथा योग्य भावना बनतीं हैं उस काल में इसके तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता है ।

स्वच्छ अन्तरात्मा का ध्येय :—

तीर्थंकर प्रकृति की वात सुनकर यह ध्यान न [illegible] लाना कि मुझे भी तीर्थंकर प्रकृति वंधै। माँगने से भीख नहीं मिलती। इतनी वड़ी बात कि मैं तीर्थंकर वनू और ऐसे २-वैभव वाला रहूं। ऐसी बुद्धि वालों के तीर्थंकर प्रकृति की आशा नहीं हैं, जो निःकाँक्ष हैं, विशुद्ध ज्ञानी हैं, अन्तरंग से विरक्त हैं, इस संसार से भयभीत हैं और अपने स्वरूप के रूचिया हैं ऐसा स्वच्छ अन्तरात्मा ही तीर्थंकर प्रकृति के वंध का पात्र होता है। ज्ञानी का तो अपने स्वरूप में वढ़ने का परिणाम अन्तर्दृष्टि की दृढता में चलने का भाव ही रहता है फिर जो भी होना हो, होता है। निःकाँक्ष और निष्पक्ष भाव से ज्ञानी अपने ज्ञान स्वरूप की साधना में रहते हैं।

प्रमुख भावना दर्शन विशुद्धि :—

सभी भावनाओं में मूल भावना दर्शन विशुद्धि है। शेष पंद्रह भावनायें हों, दर्शन विशुद्धि न हो प्रथम तो ऐसा होता नहीं—यदि ऐसा सम्भव भी हो जाये तो भी तीर्थंकर प्रकृति का बंध नहीं होता और एक दर्शन विशुद्धि हो और अन्य न्यूनाधिक भी हों तो भी तीर्थंकर प्रकृति का वंध हो सकता है। सम्यग्दर्शन धर्म का मूल है जिस प्रकार मूल के बिना वृक्ष नहीं होता, नींव के बिना मकान नहीं वनता उसी प्रकार सम्यग्दर्शन के बिना धर्म नहीं होता। ऐसा जानकर हे भव्य जीव हो जो तुम मनुष्य जन्म को पाकर इसको सफल करना चाहते हो तो सम्यग्दर्शन की विशुद्धता करो। मनुष्य जन्म की सफलता अन्य २ लौकिक कार्यों की सिद्धि में नहीं हैं। धर्माराधन करने में, पंचेन्द्रियों के

विषयों में रचे पचे रहने में तो मनुष्य जन्म की बर्बादी ही है सम्यग्दर्शन ही मोक्ष का बीज है अत:इसकी प्राप्ति के लिये यत्न शील रहना योग्य है।

सम्यग्दर्शन के विना न श्रावक का धर्म होता है और न मुनि धर्म होता है। सम्यग्दर्शन के अभाव में ज्ञान मिथ्याज्ञान चारित्र मिथ्याचारित्र और तप कुतप कहलाता है। छः ढाला में कहा है न:-

मोक्ष महल की प्रथमहि सीढ़ी, या विन ज्ञान चरित्रा।
सम्यक्ता न लहैं सो दर्शन, धारो भव्य पवित्रा॥

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति न होने से ही अनन्तानंत काल से यह जीव संसार में परिभ्रमण करता आ रहा है अब यदि चतुर्गति रूप संसार के परिभ्रमण से भयभीतता हो, जन्म मरण से छूटना चाहते हो और अनन्त अविनाशी अपनी सुखमय आत्मा की इच्छा हो तो अन्य समस्त परद्रव्यों की अभिलाषा छोड़ और सम्यग्दर्शन की उज्जवलता कर। क्यों कि सम्यग्दर्शन संसार के दुःख रूप अंधकार के नाश करने को सूर्य के समान हैं भव्य जीवों को परम शरण है।

सम्यग्दर्शन क्या ?:-

सम्यग्दर्शन का स्वरूप बताते हुये आचार्यों ने आगम में उसका स्वरुप चार परिभाषाओं द्वारा दर्शाया है।

(१) सच्चे देव, शास्त्र, गुरु के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं।

(२) जीव, अजीव, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन ७ तत्वार्थों के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं।

(३) स्व पर भेद विज्ञान को सम्यग्दर्शन कहते हैं।

(४) आत्मा के श्रद्धान को ही सम्यग्दर्शन कहते हैं।

सम्यग्दर्शन के इन चारों लक्षणों में परस्पर कोई विरोध

नहीं समझना। केवल प्रयोजन की मुख्यता से ही जुदे-जुदे लक्षण कहे गये हैं। विपरीत अभिप्राय का अभाव होने पर चारों लक्षण एक साथ पाये जाते हैं। ज्ञान में नाना प्रकार विचार चलें परन्तु श्रद्धान में सर्वत्र परस्पर सापेक्षपना पाया जाता है। अब यहां एक २ लक्षण पर विचार करते हैं।

सच्चे देव का श्रद्धानी सम्यग्दृष्टिः—

सर्व प्रथम धर्म मार्ग में कदम रखने पर देव, शास्त्र, गुरु का प्रसंग होता है सच्चा देव, शास्त्र और गुरु कौन है इसका यथार्थ निर्णय वह करता है। देव कौन हो सकता है जो वीतराग और सर्वज्ञ हो वही सच्चा देव । वीतरागता और सर्वज्ञता की प्राप्ति के बिना कोई भी देव नहीं कहला सकता। चाहे वह किसी नाम वाला हो, नाम की पूंजा नहीं की जाती, जैन धर्म में तो गुणों की पूजा होती है। जिसने मोह रागद्वेष पर सम्पूर्ण विजय पाली हो तथा जिसके क्षुधा तृषादिक १८ दोष नष्ट हो गये हों वही निर्दोष यानि वीतराग कहलाता है तथा त्रिकाल-वर्ती समस्त गुण पर्यायों सहित जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छहों द्रव्यों की अनन्त परिणतियों को एकही समय में प्रत्यक्ष जानते हों सो सर्वज्ञता है। ऐसी वीतरागता और सर्वज्ञता जिसमें होती है उसी की देवत्व रुप से श्रद्धा सम्यग्दृष्टि को होती है अन्य स्वरुप वाले जिनके रागद्वेष, चिन्ता खेदादि निरन्तर रहते हों, स्त्री व अस्त्र शस्त्र रखने वाले हों, विकृत भेष सहित हों वे वीतराग नहीं हो सकते। तथा जो इन्द्रिय ज्ञान से सहित हों वे सर्वज्ञ नहीं हो सकते। और जो वीतराग सर्वज्ञ नहीं हैं ऐसे मिथ्या और मलिन कुदेवों को उपासना से हमारा कुछ भी हित नहीं हो सकता अतः सम्यग्दृष्टि सच्चे देव का श्रद्धानी और उपासक होता है।

सच्चा शास्त्रः-

जो सर्वज्ञ वीतराग के द्वारा कही हुई वाणी है उसी का नाम सच्चा शास्त्र है क्योंकि सर्वज्ञ और वीतराग पुरुष के द्वारा ही सत्य निरुपण हो सकता है रागी और अल्पज्ञों के द्वारा नहीं। रागी द्वेषी तो आपका और पर का रागद्वेष पुष्ट करने रुप ही कहेगा। यथार्थ वक्तापणा तो वीतराग के ही सम्भव है यदि वीतराग हो और सर्वज्ञ न हो तो भी सत्य निरुपण नहीं किया जासकता क्योंकि इन्द्रियोंके आधीन ज्ञानवाला पूर्वकालमें हुये जो राम रावणादिक उनको कैसे जाने ? और दूरवर्ती जो मेरु कुलाचल स्वर्ग नरक परलोकादिक को कैसे जाने ?सूक्ष्म परमाणु इत्यादिक को कैसे जाने? अतः सर्वज्ञ वीतराग भाषित वाणी ही सच्ची और प्रमाणभूत वाणी है अथवा उनकी हो परम्परा के अनुसार आचार्यों ने, ज्ञानियों ने जो शास्त्र रचना की है वह ही प्रामाणिक और सच्ची है जिसमें सच्चे ज्ञान और वैराग्य की शिक्षा हो, मिथ्यामार्ग का खण्डन कर यथार्थ तत्व स्वरूप का जिसमें निरुपण हो, राग और विषय कषाय में लीनता रुप विपरीत मार्ग से हटाकर जो वीतरागता को पुष्ट करने वाली वाणी हो, सम्यग्दृष्टि की श्रद्धा ऐसे सच्चे शास्त्र में ही होती है।

सच्चे गुरु की श्रद्धाः-

सम्यग्दृष्टि पुरुष उसे ही गुरु मानता है जो गुणों से गुरु है कोई भी भेष बनाने मात्रसे गुरु नहीं होता अपितु जो पंचेन्द्रियों के विषयों की वान्छा से रहित हो। रंच मात्र भी आरम्भ न करता हो और अन्तरंग तथा बहिरंग २४ प्रकार के परिग्रह से भी रहित हो तथा ज्ञान ध्यान और तप में आसक्त हो वही गुरु हो सकता है। गुरु तो दर्शनीय हुआ करते हैं उनकी मुद्रा निरखकर हित की शिक्षा मिला करती है संयम धारण करके

भी अन्तरंग वहिरंग परिग्रह से जिनका मन मलीन है उनमें गुरुपना नहीं होता। २४ प्रकार के परिग्रह रहित और ज्ञान ध्यान तप में लीन ऐसे निर्ग्रन्थ मुनि के ही सम्यग्दृष्टि के गुरुपने का निश्चय होता है जो रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र) के धारी हैं वे हो गुरू हैं अन्य विपरीत भेषधारी गुणशून्य पुपरू में गुरुत्व मानने की श्रद्धा सम्यग्दृष्टि के नहीं वनती। चलो, अपने से तो भले ही हैं यह कसौटी विवेकी की नहीं है।

देव शास्त्र, गुरु का स्वरूप निर्दोप होता है उक्त गुण-धारी देव शास्त्र गुरू की उपासना, मान्यता, पूजा सम्यग्दृष्टि श्रावक करता है। इन गुणों के विना अन्य मिथ्या देव, शास्त्र गुरू को सम्यग्दृष्टि वन्दना नहीं करता। आखिर वह तो अपना कल्याणकामी है। वह फिर कुदेव कुगुरू और कुशास्त्र से क्या हित होने की आशा रखे ? कुछ भी नहीं।

सच्चे देव शास्त्र गुरूकेप्रसंगसेहोकार्यसफलता:-

किसी भी कार्य में सफलता प्राप्त करनी हो तो देव, शास्त्र, गुरू का प्रसंग हुआ ही करता है। जैसे किसी को संगीत सीखना है तो संगीत का सर्वोत्कृष्ट निपुण उसका आदर्श होता है वह हुआ संगीत मार्ग का देव। और जो समय पर शिक्षा देने वाला उस्ताद मिले वह हुआ संगीत का गुरू और संगीत कला सम्वन्धी पुस्तकें हुई शास्त्र। तो इन तीनों की उपासना संगीत शिक्षार्थी को आवश्यक होती है इसी प्रकार धर्म मार्ग में सच्चा सर्वज्ञ वीतरागी देव, उस देव की वाणी-शास्त्र और वीतरागी निर्ग्रन्थ गुरु की उपासना सम्यग्दृष्टि करता है जिससे वह मोक्ष मार्ग में विकास करता हुआ कल्याण का अधिकारी वन जाता है।

अपने ज्ञान और वैराग्य के अन्त: स्वरूप में बढ़ने का मार्ग वह निरन्तर देव शास्त्र गुरू की भक्ति द्वारा पाता रहता

है। हिम्मत नहीं हारता, अपने श्रद्धान से विचलित नहीं होता। चाहे कैसी भी प्रतिकूलता हो, गृहीत मिथ्यात्व से छूटकर और अगृहीत मिथ्यात्व को छोड़कर वह तत्व ज्ञानी सम्यग्दृष्टि पुरुष मोक्ष मार्ग में क्रीड़ाकर आनन्दित रहता है।

सप्त तत्वार्थों का श्रद्धान सम्यग्दर्शनः–

दर्शनविशुद्ध अन्तरात्मा देव, शास्त्र, गुरु की श्रद्धा से आगे उनके बताये हुये मार्ग में तत्व का यथार्थ श्रद्धान करता है। जैसा कि आचार्य उमा स्वामी महाराज ने कहा है 'तत्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्'। तत्वार्थ ७ हैं जीव, अजीव, आस्त्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। इनका जो श्रद्धान ऐसे ही है अन्यथा नाहीं ऐसा प्रतीति भाव सो तत्वार्थ श्रद्धान है।

तत्व और अर्थ ये जो दो पद कहे उसका प्रयोजन यह है कि तत्व शब्द का अर्थ है स्वरुप और अर्थ का मतलब है द्रव्य से, वस्तु से या पदार्थ से। तत्व कहिये अपना स्वरूप ताकर सहित पदार्थ तिनिका श्रद्धान सो सम्यग्दर्शन है। यदि केवल तत्व श्रद्धान को सम्यग्दर्शन का लक्षण कहा जाये तो वह स्वरूप किस पदार्थ का है यह बोध नहीं होता और अर्थ श्रद्धान ही कहें तो उस अर्थ का भाव, स्वरूप क्या है यह बोध नहीं होता। जैसे किसी के ज्ञान दर्शनादिक व वर्णादिक का तो श्रद्धान होय यह जानपना है, यह श्वेत वर्ण है आदि परन्तु ज्ञान दर्शन आत्मा का स्वभाव है सो मैं आत्मा हूँ। और वर्णादि पुद्गल का स्वभाव है। पुद्गल मुझ से भिन्न जुदा पदार्थ है ऐसा पदार्थ का श्रद्धान न होय तो भाव का श्रद्धान मात्र कार्यकारी नहीं। और जैसे मैं आत्मा हूँ ऐसा श्रद्धान किया परन्तु आत्मा का स्वरूप जैसा है वैसा श्रद्धान न किया तो भाव का श्रद्धान बिना पदार्थ का भी श्रद्धान कार्यकारी नहीं। अतः स्वरूप सहित पदार्थ का श्रद्धान ही सम्यग् दर्शन है।

जीव और अजीव दो मूल तत्वार्थः-

सप्ततत्वों में दो मूल तत्व हैं जीव और अजीवी। शेष ५ तत्व इन्हीं दो की विशेष अवस्थायें हैं। सारा विस्तार इन दो पदार्थों के कारण ही है। जीव तत्व का स्वरूप समझकर उसकी यथावत प्रतीति का होना अति आवश्यक है क्योंकि जीव तत्व सब तत्वों में प्रधान होने से प्रथम है। जीव में ही ऐसी विलक्षणता है कि वह अपने को भी जानता है और पर को भी जानता है तथा मूल भूत प्रयोजन भी सारा जीव का ही है अस्तु उसे जानना तो आवश्यक है ही। अजीव तत्व को त्यागना है वह हेय है उससे प्रथक होना है इसलिये वह भी जानना प्रयोजनवानहै। यदि अजीव को न जाना होतो कभी अत्याज्य समझकर उस वस्तु का सेवन न हो जाने की सम्भावना है। जैसे एक गाँव से दूसरे गाँव में पहुँचने तक रास्ते में जो-जो गाँव आते हैं उनका रास्ता भी पूछना पड़ता है नहीं तो इष्ट स्थान पर नहीं पहुँच सकते इसी प्रकार अजीव तत्व को जानना भी आवश्यक है। इस प्रकार जीव और अजीव ये दो तत्व तो वहुत द्रव्यों की एक जाति अपेक्षा सामान्य रूप तत्व हैं। इन दो तत्वों के जानने से जीव के आपा पर का श्रद्धान होता है। जब पर से प्रथक आत्मा को जानता है तब अपने हित के अर्थ मोक्ष का उपाय करता है।

आस्त्रव, बंध, संवर, निर्जरा, और, मोक्ष तत्व की जानकारी भी प्रयोजनीयः-

जीव और पुद्गल की पर्याय रूप ये जो आस्त्रव आदि पांच पर्यायें हैं सो ये विशेष रूप तत्व हैं। इनकी जानकारी से मोक्ष का उपाय करने का श्रद्धान होता है। मोक्ष को पहिचानने

पर उसको हित रूप मानकर उसका उपाय करें। इसलिये मोक्ष का श्रद्धान करें। मोक्ष का उपाय संवर निर्जरा है सो इनके पहिचानने से जिस प्रकार संवर निर्जरा होय तिस रूप अपना प्रवर्तन करें अतः संवर निर्जरा का श्रद्धान करना। और आस्त्रव का अभाव होने पर संवर होता है और बंध का एक देश अभाव होने पर निर्जरा। सो आस्त्रव बंध को पहिचाने तभी तो उनका नाशकर संवर निर्जरा रूप प्रवर्ते। अतः आस्त्रव बंध का भी श्रद्धान करना। इस प्रकार इन ५ पर्यायनि का श्रद्धान होने पर ही मोक्ष मार्ग होता है। अतः मोक्ष मार्ग के लिये उक्त ७ तत्वों का यथार्थ श्रद्धान करना आवश्यक है।

जीवादि सात तत्वों को सही रूप में समझे विना सम्यग्-दर्शन की प्राप्ति नही हो सकती। ये मोक्षमार्गी के लिये तो प्रयोजनभूत तत्व हैं। अनादिकाल से जीवों को इनके सम्वन्ध में भ्रान्ति रही है। तत्वों के सम्वन्ध की भ्रान्ति या भूल को मिटाकर सम्यग्दर्शन प्राप्त करना चाहिये। जव तक इन सातों तत्वसम्वन्धी भूलों को निकाल कर यथार्थ श्रद्धान न करें तव तक इसको सच्चा सुख प्राप्त करने का मार्ग प्राप्त नहीं हो सकता है। इसलिये अव इन्हीं तत्वों का स्वरूप कहा जा रहा है।

जीव तत्वः—

वह है जो चैतन्य स्वभावमय हो, जो ज्ञानदर्शनमय हो अथवा जिसका लक्षण उपयोग कहा है। "चेतन को है उप-योग रूप, विन मूरत चिन्मूरत अनूप"।

जीव का स्वभाव तो जानने देखने रूप ज्ञानदर्शनमय है और पुद्गल से वने हुवे शरीरादि वर्ण गंध, रस और स्पर्श वाले होने से मूर्तिक हैं। धर्म द्रव्य, अधर्म, काल और आकाश द्रव्य के अमूर्तिक होने पर भी जीव की परिणति इन सबसे जुदी

है। किन्तु फिर भी यह आत्मा इस भेद को न पहिचान कर शरीरादि की परिणति को आत्मा की परिणति मान लेता है।

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में भी कहा है—

अस्ति पुरुष चिदात्मा, विवर्जितः स्पर्श गंध रस वर्णैः।
गुणपर्यय समवेतः समाहितः समुदय व्यय ध्रौव्यैः॥

यानि आत्मा चैतन्य स्वरूप है वह स्पर्श रस, गंध और वर्ण इन गुणों से और इनकी पर्यायों से रहित है। अपने गुण पर्यायों में रहता हुआ निरन्तर उत्पादव्यय और ध्रौव्य सहित है।

जीव तत्व के कहने से निश्चय रूप से तो उस वस्तु से प्रयोजन है, जो ज्ञानदर्शन (जानना देखना) लक्षण से संयुक्त असंख्यात प्रदेशी है। क्योंकि ज्ञान गुण जीव के अतिरिक्त अन्य किसी में नहीं पाया जाता। जिस वस्तु में जीव नहीं होता उसे जड़ कहते हैं। जड़ में देखने व जानने की शक्ति नहीं होती यह शक्ति जीव के ही पास है जीव त्रिकालवर्ती समस्त द्रव्यगुण पर्यायों को जानने में समर्थ है तथापि अनादिकाल से द्रव्य कर्म के संयोग से मोह रागद्वेष रूप परिणमन करता हुआ विभाव रूप हो रहा है इसलिये इसमें स्वभाव विभाव रूप दो प्रकार की परिणति पाई जाने के कारण अवस्था के भेद से जीव तीन प्रकार की परिणति में पाया जाता है यानि जीव की तीन प्रकार की अवस्थायें हैं। वहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा।

वहिरात्मा:—

संसार में कर्मबन्धन के कारण इस जीव को कुछ समय तक अपने रहने के लिये जो घर मिलता है उसका नाम शरीर है जो इस अस्थाई घर (शरीर) को अपना मानता है यानि देह और जीव का भेद नहीं करता, शरीर को ही आत्मा मानता

है वह वहिरात्मा है। यह जीव शरीर को सुख देने वाली चीजें वस्त्र, भोजन, मकान धन, मित्र, पुत्र, स्त्री आदि से प्रेम करता है, और शरीर को दुःख दायक पदार्थों से द्वेष तथा घृणा करता है उनको अपना शत्रु समझने लगता है। पं० दौलत राम जी ने वहिरात्मा की परिणति का चित्रण इस प्रकार किया है कि:—

मैं सुखी दुःखी मैं रंक राव, मेरे धन गृह गोधन प्रभाव।
मेरे सुत तिय मैं सबल दीन, बेरूप सुभग मूरख प्रवीण ॥

वहिरात्मा जीव अपने ज्ञान स्वभाव को भूलकर शरीर की सुन्दरता से अपने को सुन्दर और कुरूपता से कुरूप मानलेता है तथा उसके सम्बन्ध से होने वाले पुत्रादिक में भी आत्मबुद्धि करता है। शरीराश्रित उपवासादि और उपदेशादि क्रियायों में भी अपनापन अनुभव करता है।

ऐसी भूल भरी विपरीत मान्यता के कारण से यह जीव संसार में शत्रु मित्र का ताना वाना बुनकर, काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, ममकार, प्रेम, द्वेष, ईर्षा, छल, हिंसा, चोरी, काम-सेवन, परिग्रहसंग्रह आदि अनेक तरह के काम करता है और फसने के लिये कर्मों के जाल तैयार करता रहता है। ऐसे कर्म जाल में जो जीव फसे हैं वे जीव वहिरात्मा हैं। यह अनन्त दुःख को देने वाली अवस्था है।

अन्तरात्मा:—

जिन जीवों को विवेक द्वारा आत्मा और शरार का भेद ज्ञान हो जाता है वे शरीर को अपनी वस्तु नहीं समझते, इस कारण शरीर से उनकी मोह ममता हट जाती है और वे शरीर की तरह संसार की अन्य वस्तुओं को अपनी नहीं समझते, विषय भोगों में भी उन्हें रुचि नहीं रहती। आत्मा को शुद्ध करने के लिये वे तप-त्याग और संयम का अभ्यास करते हैं। समता भाव

का उनमें उदय होता है इसलिये संसार में न उनका कोई मित्र दीखता है न कोई शत्रु। शान्ति वैराग्य बढ़ाने वाली बातों में उनकी रुचि बढ़ती जाती है। यदि वे ग्रहस्थ आश्रम में किसी कारण रहते हैं तो घर का काम बड़ी उदासीनता से करते हैं उनकी यही इच्छा रहती है कि मुझे कब ऐसा अवसर मिले कि घरबार छोड़कर एकान्त में धर्म साधना करता रहूँ। जो लोग घरबार छोड़ सकते हैं, वे सब कुछ कार्य छोड़कर अपना सारा समय आत्म साधना में लगाया करते हैं। यानि भेद विज्ञान हो जाने पर जीव का ध्यान बाहरी बातों से हटकर आत्मा की ओर लग जाता है ऐसी अवस्था को अन्तरात्मा कहते हैं इनका कर्म बंधन छूटता जाता है, ढीला होता जाता है।

परमात्मा :—

संसार के सभी पदार्थों से मोह ममता का सम्बन्ध तोड़ कर जब साधु बन करके विरक्त पुरुष तप, त्याग, संयम के द्वारा तथा आत्मध्यान के द्वारा आत्म साधना में लीन हो जाते हैं तब इनके नया कर्मबंधन होना रुक जाता है और पुराना कर्म बंधन भी टूटता जाता है। इस तरह उनकी आत्मा शुद्ध होती चली जाती है आत्मा के ज्ञान, दर्शन, सुख, सन्तोष, धीरता, वीरता, गम्भीरता आदि गुण विकसित होते जाते हैं इस प्रकार जब यह अन्तरात्मा अपनी शुद्धि करते-२ कर्मबंधन से छूटकर पूर्ण शुद्ध हो जाता है तब वह परमात्मा (सबसे उच्च-शुद्ध आत्मा) बन जाता है। उस समय वह जन्म मरण से छूट कर अजर अमर बन जाता है अज्ञान और मोह से छूटकर सर्वज्ञ वीतराग बन जाता है तब उसमें कोई विकार दोष, क्लेश नहीं रहने पाता, निरंजन, निर्विकार, सच्चिदानंद हो जाता है। समस्त दुःखों से छूटकर सदा के लिये अनन्त सुखी बन जाता है।

जीव की इन तीन परिणतियों को समझकर इनमें वहिरात्मा को हेय जानकर छोड़ देना चाहिये और अन्तरात्मा बनना चाहिये तथा परमात्मा का निरन्तर ध्यान कर आनन्द प्राप्त करना चाहिये।

जीव का विस्तार से बोध करने के लिये श्री नेमी चन्द्राचार्य ने अपनी कृति "द्रव्य संग्रह" में नौ अधिकारों के द्वारा जीव की परिणतियों का वर्णन किया है। वे नौ अधिकार इस प्रकार हैं:-

जीवो उवओगमयो अमुत्ति कत्ता सदेह परिमाणो।
भोता संसारत्थो, सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई ॥

अर्थ:-जीव जीने वाला है (जीवत्व) उपयोगमय है (उपयोगत्व) अमूर्तिक है (अमूर्तित्व) कर्ता है (कर्तृत्व) भोक्ता है (भोक्तृत्व) अपनी देह के परिमाण है (स्वदेह परिमाणत्व) संसारी है (संसारित्व) सिद्ध है (सिद्धत्व) और स्वभाव से उर्ध्वगमन करने वाला है (उर्ध्वगतित्व)।

इस प्रकार जीव का इन नौ अधिकारों द्वारा ज्ञान करने के लिये द्रव्य संग्रह देखना चाहिये।

अजीव तत्वः-

जो चेतना रहित है अर्थात् जो अपने व दूसरे को जानने की शक्ति से रहित है सो अजीव है। अजीव जिनागम में ५ प्रकार के कहे गये हैं पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। सो धर्म, अधर्म, आकाश और कालतो शुद्ध द्रव्य हैं इनका तो जीव से किसी प्रकार का सम्बन्ध ही नहीं। हाँ यह पुद्गल द्रव्य की स्कन्धरूप पर्याय जो शरीर जिसका जीव के साथ एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध बन रहा है सो यह शरीर तो पुद्गल है, जड़ है, मूर्तिक है जीव से प्रथक है लेकिन अज्ञानी शरीर को ही अपना स्वरूप मानकर शरीर की उत्पत्ति से अपनी उत्पत्ति

मानता है और शरीर के बिछुड़ने पर अपना मरण मानता है। इस प्रकार यह अजीव को जीव मानता है, जो महान भूल है। यह समस्त लोक अनन्तानन्त जीव, अनन्तानन्त पुद्गल एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाश द्रव्य व असंख्यात काल द्रव्य इस प्रकार षट् द्रव्यों से भरा हुआ है। इन ६द्रव्यों में पुद्गल को छोड़कर शेष जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल अमूर्तिक हैं यानि रूप, रस, गंध, स्पर्श से रहित हैं और पुद्गल मूर्तिक है।

पुद्गलः—

स्पर्श, रस, गंध, वर्ण आदि शक्तियों का पिन्ड पुद्गल कहलाता है। पुद्गल द्रव्य एक परमाणु रूप है किन्तु वे परमाणु परस्पर मिलकर एक स्थूल व बड़ा आकार बनाने की शक्ति रखते हैं जिसको स्कन्ध कहते हैं वह स्कन्ध भी पुनः टूटकर परमाणु बन सकता है। इस पूरण (मिलने) गलन (टूटने) स्वभाव के कारण भी इसे पुद्गल द्रव्य कहते हैं। दृष्ट जगत में विज्ञान के विविध आविष्कार सब पौद्गलिक शक्तियों की देन हैं। शब्द-तरंग, बंध, सूक्ष्मता, स्थूलता, संस्थान, भेद, तम, छाया, आतप और उद्योत आदि पर्यायें उस पुद्गल की ही अवस्थायें हैं। पुद्गल में जो रूप, रस, गंध व स्पर्श ये चार गुण हैं वे पुद्गल में अनादि अनन्त रहते हैं। इनमें रूप के परिणमन ५ प्रकार के हैं कृष्ण, नील, पीत रक्त और श्वेत। रसके परिणमन ५ प्रकार के हैं—आम्ल, मधुर, कटु, तिक्त और कषायला। गंध के दो परिणमन हैं- सुगन्ध और दुर्गन्ध। स्पर्श-गुण के परिणमन ४ तो द्रव्यगत हैं और ४ आपेक्षिक हैं। इस प्रकार ८ परिणमन होते हैं स्निग्ध, रूक्ष, शीत, उष्ण, कठोर, कोमल, लघु, गुरु। इनमें से प्रथमचार तो द्रव्यगत हैं इसलिये

परमाणु में भी पाये जाते हैं और स्कन्धों में भी पाये जाते हैं परन्तु बाद के ४ परिणमन आपेक्षिक हैं इसलिये स्कन्धों में तो पाये जाते हैं परमाणुओं में नहीं ।

जो कुछ दीखने में आ रहा है वे सब अनेक पुद्गल की मिलकर पर्यायें हैं । पुद्गल वर्गणा ६ प्रकार की हैं:-

(१) स्थूल स्थूल-जो खंड-खंड होकर सहज में न मिले ऐसे दृढ पदार्थ जैसे पत्थर, मिट्टी, लकड़ी आदि ।

(२) स्थूल-जो खंड करने पर बिना किसी चीज की सहायता के वैसे ही मिल जाये जैसे जल, दुग्ध, तेल आदि ।

(३) स्थूल सूक्ष्म-जो देखने में बहुत मालूम हों परन्तु पकड़ने में न आवें जैसे चाँदनी, धूप, छाया आदि ।

(४) सूक्ष्म स्थूल-जो नेत्रों से दृष्टि गोचर न होकर अन्य इन्द्रियों से जाने जावें जैसे शब्द, सुगन्ध, दुर्गन्ध आदि ।

(५) सूक्ष्म-अनेक भाँति की कर्मवर्गणा जो इन्द्रिय ज्ञान गोचर नहीं होती जिनसे बंधा हुआ यह आत्मा अनादिकाल से संसार में भ्रमण कर रहा है ।

(६) सूक्ष्म-सूक्ष्म-सबसे छोटा पुद्गल परमाणु जिसका फिर विभाग न हो सके ।

धर्म द्रव्यः—

यह धर्मद्रव्यगमन करते हुये पुद्गल और जीवोंको उदासीन रूप से सहकारी होता है धर्म द्रव्य के बिना जीव या पुद्गल चल नहीं सकते । परन्तु धर्मद्रव्य किसी स्थिर वस्तु को बल-पूर्वक भी नहीं चलाताहै जैसे पानी मछलियोंके चलने में सहकारी होता है किन्तु प्रेरक नहीं होता । यह द्रव्य असंख्यात प्रदेशी, नित्य, अविनाशी,विभाव पर्याय रहित, निष्क्रिय, तिल में तैलवत

समस्त लोकाकाश में व्याप्त है, अरूपी है ।

अधर्म द्रव्यः—

यह अधर्म द्रव्य स्वयं गतिपूर्वक स्थिति रूप परिणमें पुद्गल और जीवों को ठहरने में उदासीन रूप से सहायता देता है जैसे मार्ग में चलने वाला पथिक वृक्ष की छाया में बैठ जाता है परन्तु वह चलतेहुये मनुष्यको प्रेरकहोकर नहीं ठहराताहै उसी प्रकार अधर्म द्रव्य स्थिर होने की प्रेरणा नहीं करता है यह द्रव्य भी असंख्यात प्रदेशी, अविनाशी, निष्क्रिय, अमूर्तिक है और तीन लोक में सर्वत्र व्याप्त है ।

आकाशः—

यह आकाश द्रव्य जीवादि पाँच द्रव्यों को अवकाश दान देने वाला, जड़, अरूपी अनन्तप्रदेशी एक है इसमें भी स्वभाव पर्याय होती है विभाव नहीं । जितने आकाश में धर्मद्रव्य अधर्मद्रव्य, कालद्रव्य, पुद्गल और जीव स्थित हैं वह लोकाकाश है और जहाँ ये एक भी नहीं हैं केवल आकाश ही है वह अलो-काकाश है ।

काल द्रव्यः—

यह काल द्रव्य वर्तना लक्षण युक्त है जो समस्त द्रव्यों के परिणमन में निमित्त कारण हो वह काल द्रव्य है ।प्रत्येक द्रव्य के पर्याय से पर्यायान्तर होने में काल द्रव्य उदासीन रूप से सहकारी होता है जिस प्रकार कुम्हार के चाक के फिरने में चाक के नीचे की कीली कारण है । यद्यपि फिरने की शक्ति चाक में है चाक ही फिरता है परन्तु वह बिना नीचे की कीली के फिर नहीं सकता । इसी प्रकार जीव पुद्गल आदि समस्त पदार्थ जो अपने आप स्वयं परिणमन करते हैं उनके परिणमन में

काल निमित्त कारण है। व्यवहार नय से इसकी पर्याय समय, पल, घटिका, मुहूर्त और दिन, सप्ताह, पक्ष, मास और वर्षादि हैं वह निश्चयकाल की पर्याय है, समयकाल की पर्याय का सबसे छोटा अंश है इसी के समूह से आवली, घटिका आदि व्यवहार काल का प्रमाण होता है। यह द्रव्य अविनाशी, अमूर्तिक और जड़ है इसके अणु लोकाकाश के बराबर असंख्यात हैं क्योंकि लोकाकाश के एक २ प्रदेश पर, काल द्रव्य का एक-एक अणु रत्नों की राशि के समान भरा है यानि काल के अणु,प्रथक- २ हैं वे मिलकर एकत्र नहीं हो सकते एक प्रदेशी हैं। इस कारण काल को काय संज्ञा नहीं है काल को छोड़कर शेष ५ द्रव्यों को अस्तिकाय कहते हैं। इसमें स्वभाव पर्याय होतीं हैं विभाव पर्याय नहीं होतीं।

धर्म, अधर्म आकाश और काल उदासीन स्वभाव रूप और स्थिर रहते हैं और बाकी के दो द्रव्य जीव और पुद्गल में ही भ्रमण करने की शक्ति है इससे इन दोनों को क्रियावान कहते हैं शेष चार द्रव्य निष्क्रिय होते हैं।

उक्त अजीव पदार्थों में व उनकी परिणतियों में जीव तत्व की भ्रान्ति नहीं करना चाहिये।

आस्त्रव तत्वः—

जीवों की मिथ्यात्व, अविरत कषायादि भावों से युक्त मन वचन काय की प्रवृत्तिहोने से तथा उनके अभाव में पूर्वबद्ध कर्म के उदय होने से, केवल योगों द्वारा आत्म-प्रदेशों के चंचल होने से आत्मा से वद्ध होने के लिये पुद्गल परमाणुओं का सन्मुख होना द्रव्यास्त्रव और आत्मा के जिन भावों से पुद्गल द्रव्य कर्म रूप होते हैं उन भावों को भावास्त्रव कहते हैं।

भावास्त्रव जीव का स्वयं का किया हुआ वह अपराध

है जिससे उसे व्याकुलता रूप दण्ड उठाना पड़ता है। यह राज्य दण्ड वाला अपराध नहीं वल्कि पारमार्थिक अपराध है जिस अपराध के कारण ही आज तक यह जीव नाना प्रकार के मोह, राग, द्वेष भावों का दुःख भोगता हुआ चतुर्गति रूप संसार में परिभ्रमण करता आ रहा है। रागद्वेष मोह आदि विकारी भाव प्रगट में दुःख देने वाले हैं पर यह जीव उन्हीं का सेवन करता हुआ अपनेको सुखीमानता है कहता हैकि शुभ राग तो सुखकर है उससेतो पुण्यवंधहोगा,स्वर्गादिक सुखमिलेगा। पर यह नहींसोचता कि जो बंध का कारण है वह सुख का कारण कैसे होगा। तथा छः ढाला की पहली ढाल में तो साफ ही वताया है कि स्वर्ग में सुख है कहाँ। जब संसार में सुख है ही नहीं तो मिलेगा कहाँ से। अतः जो शुभाशुभ राग आस्त्रव तत्वहै उसे सुखकर मानना ही आस्त्रव तत्व सम्वन्धी भूल है।

इस भावास्त्रव के मिथ्यात्व,अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये ५ भेद हैं।

जीवादि तत्व का अन्यथा श्रद्धान करना मिथ्यात्व है। इसके दो भेद हैं गृहीत मिथ्यात्व और अगृहीत मिथ्यात्व। पर के उपदेश के विना पूर्वोपार्जित मिथ्यात्व कर्म के उदय से जो अतत्व श्रद्धानहो उसे अगृहीतमिथ्यात्व कहतेहैं और परके उपदेश सेजो कुगुरू,कुदेवऔर कुधर्मका श्रद्धानीवनजाना,उनकासेवनकरने लग जाना सो गृहीत मिथ्यात्व है। गृहीत मिथ्यात्व के एकान्त, विपरीत, संशय, विनय, और अज्ञान मिथ्यात्व ऐसे ५ भेद हैं।

षट काय के जीवों की अरक्षा तथा इन्द्रिय और मन की विषयों से प्रवृत्ति के न रोकने को अविरति कहते हैं। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र तथा मन इनको वश में न करना इनके विषयों में सदैव लोलुपी बने रहना तथा पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक

तथा द्वीन्द्रियादि त्रसकाय वाले जीवों की रक्षा न करना सो अविरति है।

जो आत्म गुण का घात करें व कषित करे सो कषाय है इसके २५ भेद हैं—अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ। अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ। प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ। संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ। हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, पुंवेद, स्त्रीवेद, नपुंसक वेद।

निरतिचार पूर्वक चारित्र पालने में निरुत्साही व मन्दोद्यमी होने को प्रमाद कहते हैं इसके १५ भेद हैं—स्त्रीकथा, राजकथा, भोजनकथा और देशकथा ये ४ तो विकथायें, क्रोध, मान, माया और लोभ ये ४ कषायें। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण ये ५इन्द्रिय विषयतथा स्नेहऔरनिद्रा ऐसे १५ प्रकार का प्रमाद है।

मन, वचन काय के निमित्त से आत्मा के प्रदेशों के चंचल होने को योग कहते हैं ये योग १५ प्रकार के हैं—४मनोयोग-सत्यमनोयोग, असत्यमनोयोग, उभयमनोयोग, और अनुभयमनोयोग ४ वचनयोग-सत्यवचनयोग, असत्यवचनयोग, उभयवचनयोग और अनुभयवचनयोग। ७ काय योग-औदारिककाययोग, औदारिक मिश्रकाय योग, वैक्रियककाययोग, वैक्रियक मिश्रकाययोग, आहारक काययोग, आहारक मिश्रकाययोग, और कार्मणकाययोग। ये मिथ्यात्वादि ही मूल आस्त्रव हैं जीव के लियेदुःख के कारण हैं अतः इन्हें छोड़ना चाहिये।

जब मन, वचन, काय की प्रवृत्ति तीव्रकषायरूप होती है तब पापास्त्रव होता है और जब मंद कषाय रूप होती है तब पुण्यास्त्रव होता है। ये दोनों प्रकार का ही आस्त्रव हेयतत्व है। कषाय सहित जीव के स्थिति लिये हुये संसार का कारण रूप जो आस्त्रव होता है उसे सांपरायिक आस्त्रव कहते हैं और जब कषाय रहित पूर्ववद्ध कर्मानुसार योगों की क्रिया से स्थिति रहित

आस्त्रव होता है उसे ईर्यापथिक आस्त्रव कहते हैं। सांपरायिक आस्त्रव में प्रकृतिबंध, प्रदेशबंध, स्थितिबंध और अनुभागबंध ऐसे चारों प्रकार का बंध होता है ये आस्त्रव समस्त संसारी जीवों के होता है। ईर्यापथिक आस्त्रव में केवल प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध ऐसे दो ही प्रकार का बंध होता है ये आस्त्रव उपशांतकषाय, क्षीणकषाय तथा सयोग केवली नामक ११वें १२वें और १३वें गुण स्थान वालों के होता है और अयोग केवली नामक १४वें गुण स्थानमें मन, वचन, काय के योगों का अभाव होनेसे आस्त्रव का अभाव है।

इन आस्त्रवादि तत्वों को तीन प्रकार से देखा जाता है– एक तो सिर्फ जीव जीव में दूसरे सिर्फ अजीव में तीसरे जीव अजीव की परस्पर सापेक्षता में। जैसे आस्त्रव को देखें, कर्म के आने को आस्त्रव कहते हैं-जीव में अजीव का आना आस्त्रव है (तीसरी पद्धति से) कर्म में अन्य नवीन कर्म का आना आस्त्रव है (दूसरी पद्धति से) चैतन्य भूमिका में शुभाशुभ परिणाम का आना आस्त्रव है। (पहिली पद्धति से)।

बंधतत्व:–

जो आत्मा के रागद्वेषादि अशुद्ध परिणाम कर्मरूप पुद्गल परमाणुओं को आत्मा के प्रदेशों से बंधने में कारण हों उनको भाव बंध कहते हैं और वही कर्मरूप पुदगल जो आत्मा के प्रदेशों से एक क्षेत्रावगाही होते हैं उसे द्रव्य बंध कहते है। अशुद्ध भाव रूप अपने अपराध के द्वारा ये अशुद्ध भावों के संस्कारों का निर्माणकर लेता है और कर्मो में कार्माण शरीर का बंध कर लेता है। यह सूक्ष्म कार्माण शरीर ही मेरा मूल शरीर है यदि यह न होता तो स्थूल शरीर कहां से बनता? जीव व इस शरीर के बीच वह गोंद का काम करता है बंदी गृह भी वही शरीर है क्योंकि वह तो त्याग पत्र दे देता है

परन्तु वह अनादि से रह रहा है, हाँ गुसंस्कारों से वह कृश होता है। अस्तु शान्ति का उपाय उसी शरीर का बंध विच्छेद करना है। उस शरीर का अग्नि या किसी यंत्र के द्वारा विच्छेद नही किया जा सकता ।हाँ मैं उस अपराध का विच्छेद अवश्य कर सकता हूँ जिसके कारण उसका प्रवेश हो रहा है। प्रकाश को पीटने से प्रकाश का अभाव नहीं होता, दीपक बुझाने से होगा। कुत्ते की तरह लाठी पर झपटने से काम नहीं बनेगा। पर सिंह की तरह मारने वाले पर झपट। यानि अन्तर में उठने वाले उन इन्द्रिय भोगों के विकल्पों को मार। अन्तर में जो मोह राग द्वेष रूप अन्तरंग बंधन हैं यह बंध बेड़ियों रूप नहीं, जलखाने रूप नहीं परन्तु इन से भी प्रबल है । यह जीव शुभ कर्मो के फल मेंराग करता है और अशुभ कर्मो के फल में द्वेष करता है जबकि शुभ कर्मो का फल है भोग सामग्री की प्राप्ति, और भोग दुःखमय ही हैं सुखमय नहीं। अतः शुभ और अशुभ दोनों की कर्म वास्वतव में संसार का कारण होने से हानि कारक हैं और मोक्ष तो शुभ अशुभ बंध के नाश से ही होता है ऐसा नही मानना ही बंधतत्व के सम्बन्ध में भ्रान्ति है ।

बंध को दो रूप में देखो एक अन्तरंग में दूसरा बाहर में। यदि जीव स्वयं अन्तरंग में ना बंधे तो बाहर में बाँधने वाली कोई शक्ति नहीं जो मुझे बाँध सके। शरीर व स्त्री पुत्रादि की सेवा में जुटे रहना तो वह अन्तरंग बन्धन हैं जो मैंने स्वंय अपने सिर पर लिया हुआ है और जड़ कर्मों का पुष्ट होते रहना सो बाह्य बन्धन है परन्तु सोचो मेरे कल्याण में विचारा जड़ क्या बाधा पहुंचा सकता है ? यदि मैं स्वयं भूल न करूँ तो वह पड़ा है, पड़ा रहेगा।

"कर्म विचारे कौन भूल मेरी अधिकाई, अग्नि सहे घनघात

लोह की संगत पाई।" देखो जैसे कोई मूर्ख व्यक्ति स्वयं ही वृक्ष की कौली भरकर, यदि आते जाते पथिकों से यह पुकार करे कि भाई मेरी सहायता करो, मुझे छुड़ाओ इस वृक्षने मुझे पकड़ रखा है। अथवा जैसे नलकी पर तोता लटक गया अब वह स्वंय पंख तो फड़फड़ाये पर पांवों को न छोड़े तो कैसे उड़े। अथवा देखो उस बन्दर की मूर्खता – शिकारी द्वारा पृथ्वी में आधी गड़ी हुई चनों से भरी हंडियों में चनों के लालच वश हाथ डाले स्वयं, चनों की मुठ्ठी भरे स्वयं और बन्द मुठ्ठी न निकाल सके तो पुकारे हाय हाय हंडियों ने मुझे पकड़ लिया-छुड़ाओ।

अरे तू अपनी पर हँस,पर की सेवा छोड़और अपने आत्मा की सेवा कर। शुभाशुभ अशुद्ध भावों के संस्कारों को क्रम से मिटा, अशुद्ध भावों से पाप बंध और शुभभावों से पुण्य बंध होता है यह दोनों प्रकार का बंधतत्व ही हेय है। बंधन से जीव की शोभा है ही नहीं। बंध से तो छुटकारा प्राप्त करना है। इन शुभाशुभ अशुद्ध भावों से जीव के प्रदेशों के साथ कर्म के परमाणुओं के मिल जाने रूप कर्म बंध को आगम में ४ प्रकार का कहा है–प्रदेश बंध प्रकृति बंध स्थिति बंध और अनुभाग बंध।

आत्मा के मन बचन काय की क्रिया से कर्म रूप पुदगल परमाणुओं का आत्मा के प्रदेशों से एक क्षत्रावगाह रूप होना प्रदेश बंध है।

कर्म वर्गणाओं में प्रथक प्रथक आत्मगुण के घात करने रूप प्रकृति का पड़ जाना प्रकृति बंध है।

जितने काल तक कर्मवर्गणा सत्ता में रहे, रस देकर निर्जरित हो उस काल की मर्यादा को स्थिति बंध कहते हैं।

तीव्र, मंद रस देने की जो शक्ति है उसे अनुभाग बंध कहते हैं।

इस बंध तत्व को भी तीन पद्धति में देखो–जीव में

अजीव का बंध जाना बंध है (तीसरी पद्धति) अजीव कर्म में नवीन कर्मों का बंध जाना बंध है (दूसरी पद्धति) चैतन्य भूमिका में शुभाशुभ परिणाम का ठहर जाना बंध है (पहली पद्धति)

संवर तत्व:—

आस्त्रवों का निरोध करना संवर है। वह द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का है। कर्मास्त्रव के निरोध को कारणभूत सम्यक्त्व, व्रत और समित्यादि के पालन रूप में परिणाम हो जाना भाव संवर है। कर्म वर्गणाओं का आगमन रुकजाना द्रव्य संवर है। यह नीति है कि जिस कारण से जिस कार्य की उत्पत्ति होती है उस कारण के अभाव में उस कार्य की उत्पत्ति का भी अभाव हो जाता है। इसलिये इस जीव के जो संसार परिभ्रमण के कारण हैं मिथ्यात्व, अविरत, कषाय प्रमाद और योग। इन के द्वारा ही आस्त्रव होकर बंध होता है उस आस्त्रव को रोकने के लिये सम्यदर्शन से मिथ्यात्व का, देशव्रत तथा महाव्रत धारण करने से अविरत रूप भावों का निरालसी तथा ध्यानी होने से प्रमादों का, यथाख्यात चारित्र की प्राप्ति से कषायों का, मन वचन काय के योगों की प्रवृत्ति के निरोध से योगों का संवर करना प्रत्येक मुमुक्षु का कर्त्तव्य है। आत्मज्ञान और आत्मज्ञान सहित वैराग्य संवर है और वही आत्मा को सुखी करने वाले हैं उन्हें अज्ञानी जीव कष्ट दायी मानता है तात्पर्य यह है कि उसे यह पता ही नहीं कि ज्ञान और वैराग्य की प्राप्ति आनन्दमयी होती है कष्ट मयी नहीं। जीव को अपना वह अपराध छोड़ देना चाहिये जिससे कि आस्त्रव होता है और संवर प्राप्त करने के लिये ५ व्रत ५ समिति, ३ गुप्ति, १० धर्म १२ अनुप्रेक्षा, २२ परीषह जय और ५ प्रकार का चारित्र बताया है, जो संवर के लिये कारण हैं इन्हें आदर पूर्वक धारण करना चाहिये

पाँचव्रत—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रह

त्याग महाव्रत ।

पाँच समिति-ईर्या, भाषा, ऐषणा, आदान निक्षेपण और प्रतिष्ठापन या उत्सर्ग समिति ।

तीन गुप्ती मनोगुप्ति, वचन गुप्ति और काय गुप्ति ।

दसधर्म-उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिन्चन, और ब्रह्मचर्य ।

१२ अनुप्रेक्षा- अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्त्रव, संवर, निर्जरा, लोक, वोधिदुर्लभ और धर्म ।

२२ परिषह जय- क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नग्नता, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार- पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान, और अदर्शन ।

५ चारित्र- समायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्म सांपराय, और यथाख्यात चारित्र ।

इन सब संवर के कारणों का स्वरूप समझकर इन रूप अपने जीवन को बनाकर शुद्ध भाव की प्राप्ति करना चाहिये ।

संवर को भी तीन पद्धति से देखो—जीव में अजीव का आना रुक जाना संवर है (तीसरी पद्धति) कर्म का आना रुक जाना संवर है (दूसरी पद्धति) चैतन्य भूमिका में शुभाशुभ परिणामों का आना रुक जाना संवर है। (पहली पद्धति से)

निर्जरा तत्व:-

आत्मा के प्रदेशों से कर्मों का एकोदेश क्षय होना निर्जरा है। आत्मा के जिन शुद्ध भावों की वृद्धिसे कर्म एकदेश निर्जीण होते हैं उन भावों को भाव निर्जरा कहते हैं। और कर्म

के एकदेश पृथक होने को द्रव्य निर्जरा कहतेहैं अथवा आत्मज्ञान पूर्वक इच्छाओं का अभाव ही निर्जरा है और वही आनन्दमय है उसे न जानकर एवं आत्मशक्ति को भूलकर इच्छाओं की पूर्ति में ही अज्ञानी जीव सुख मानता है और इच्छाओं के अभाव को सुख नहीं मानता- इस निर्जरातत्व सम्बन्धी भूल को मिटाओ और तपश्चरण का आचरण करके अविपाक निर्जरा के अधिकारी बनो। निर्जरा दो प्रकार की है- सविपाक निर्जरा और अविपाक निर्जरा।

सविपाकनिर्जरा-सत्तास्थित कर्मो का कालानुसार उदय में आकर एकोदेश क्षय हो जाना सविपाक निर्जरा है यह निर्जरा सम्पूर्ण संसारी जीवों के अपने आप सदाकाल होती रहती है। यह मोक्ष केलियेकार्यकारी नहीं होती क्योंकि जैसे-२ क्रम पूर्वक पूर्व-संचित कर्मवर्गणा उदयकाल आने पर अपना फल देकर निर्जरती है उसी प्रकार नवीन-नवीन कर्मवर्गणाओं का आगमन होकर फिर नूतन कर्म बंध होता है, अतः संसार का ही कारण है। जैसा कि कहा है-

निजकाल पाय विधि झरना, तासौं निजकाज न सरना।

अविपाक निर्जरा-सम्यक्तप के अनुष्ठान से कर्मो का उदयकाल के आये विना ही, विना फल दिये ही आत्मा के प्रदेशों से एकोदेश क्षय हो जाना अविपाक निर्जरा है, यह निर्जरा सम्पूर्ण संसारी जीवों के अपने आप नहीं होती। यह तो सम्यग्दृष्टि जीव ही करता है यह मोक्ष के लिये कारण है क्योंकि इसमें नवीन कर्मो का बंध नहीं होता। जैसे वृक्ष के कच्चे फल जो स्वयं न पकें परन्तु साधन विशेष से उनको असमय में पकाकर भोग लिया जाता है उसी प्रकार तप करके कर्मों को असमय में उदय में लाकर बिना फल भोगे निर्जीर्ण कर दिया जाता है जैसा कि कहा है-

"तप करि जो कर्म खिपावै, सोई शिव सुख दरसावैं"।

तप संवर-पूर्वक निर्जरा का प्रधान कारण हैं। संसारिक विषयों की इच्छा रहित होकर आत्मा को कर्म मल रहित निर्मल करना, तपाना सो तप है। अंतरंग और वहिरंग के भेदसे तप दो प्रकार के हैं। वहिरंगतप ६ प्रकारका है-अनशन, अवमौदर्य,व्रत्तिरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त शैय्यासन और कायक्लेश। अन्तरंग तप के ६ भेद हैं- प्रायश्चित, विनय, वैय्यावृत्त, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान।

जब साधक शुक्ल ध्यान रूपी पावक से मोहनीयादि कर्मवृक्षों को समूल नष्ट करता है तो मोक्ष प्राप्त होता है।

निर्जरा तत्व को भी तीन रूप से देखो- जीव से अजीव का दूर होने लगना निर्जरा है (तीसरी पद्धति से) अजीव कर्मो का दूर होने लगना निर्जरा है। (दूसरी पद्धति से) चैतन्य भूमिका से शुभाशुभ परिणाम का दूर होने लगना निर्जरा है (पहिली पद्धति से)।

मोक्ष तत्वः–

सब कर्मों का अत्यन्त अभाव होने से आत्मा के निज स्वभाव का प्रगट हो जाना मोक्ष है। आत्मा की पूर्ण शुद्धि का नाम मोक्ष है। मुक्ति में पूर्ण निराकुलता रूप सच्चा सुख है अज्ञानी उसे न जानकर भोग सम्बन्धी सुख को ही सुख मानता है और मुक्ति में भी इसी जाति के सुख को कल्पना करता है। अतः मोक्ष को यथार्थ पहिचान। जिसमें ४ घातिया कर्मो का अभाव कर १३ वें गुणस्थान को प्राप्त होकर सयोग केवली सकल परमात्मा भव्य जीवों को मोक्ष का मार्ग दिखाते हैं। यह समस्त प्राणियों से पूज्य होने की अपेक्षा अर्हन्त तथा शरीर सहित होने से सकल परमात्मा और अल्पकाल के पीछे नियम से मोक्ष जायेंगे तथा आयूकर्म के उदय से वर्तमान काल में

सम्यग्दर्शन की तीसरी परिभाषा पर विचार:-

सच्चे देव, शास्त्र, गुरु के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं व तत्वार्थ श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं इन दो परिभाषाओं पर विचार करने के बाद अब स्व-पर भेद विज्ञानी बनना सो सम्यग्दर्शन है उस पर चर्चा होती है।

भेद विज्ञान का महत्व:-

इस अज्ञानी जीव ने अनादिकाल से मिथ्यात्व नामक कर्म के वश होकर अपने स्वरूप की व पर के स्वरूप की पहिचान नहीं की। यह अज्ञानी पर्याय कर्मकेउदयसेजैसीपर्याय पाता है उसको ही अपना स्वरूप जानता हुआ अपने आत्मा के सत्यार्थ स्वरूप के ज्ञान में अन्धा बनकर अपने आत्म स्वरूप से भ्रष्ट हुआ चतुर्गति में भ्रमण करता है अतः जिस प्रकार स्व-पर द्रव्य का भेदज्ञान उज्जवल हो वैसा प्रयत्न करना चाहिये। भेद ज्ञान की बात कहते हुये श्री मद्‌अमृतचन्द्राचार्य समय सार कलश में कहते हैं कि-

भेद विज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन ।
अस्यैवाभावतो बद्धा, बद्धा ये किल केचन ॥

अर्थः-जो कोई सिद्ध हुये हैं वे भेद विज्ञान से ही सिद्ध हुये हैं और जो कोई बंधे हैं वे उसी के (भेद विज्ञान के) ही अभाव से बंधे हैं।

जब तक जीव को भेद विज्ञान नहीं होता तब तक वह कर्म से बंधता ही रहता है- संसार में परिभ्रमण ही करता रहता है पर जब जीव को भेद विज्ञान होता है तब वह कर्मों से अवश्य छूट जाता है इसलिये मोक्ष का पहिला कारण भेद विज्ञान ही है भेद विज्ञान के बिना कोई सिद्धि को प्राप्त नहीं कर सकता।

इसलिये कहा है कि -जो संसार समुद्र से है तिरने की चाह।
भेद ज्ञान नौका चढ़ो, छोड़ो पर की हाय॥

भेद ज्ञान की आवश्यकता क्यों:-

इस संसार अवस्था में जो अनंतानंत जीव द्रव्य हैं वे अनादि से ही कर्मबन्धन सहित हैं, कर्म के उदय से एक आत्मा और अनंत पुद्गल परमाणुमय शरीर इनके संयोग रूप मनुष्यादि पर्याय उत्पन्न होती है भेद विज्ञान न होने से वह अज्ञानी जोव उस पर्याय को ही अपना मानता है, आत्मा का जो ज्ञान दर्शनादि स्वभाव है उससे कर्म के क्षयोपशम प्रमाण किंचित् जानना देखना होता है तथा कर्म उपाधि से जो होने वाले क्रोधादिक भाव भी उसके पाये जाते हैं और शरीर का जो स्पर्श, रस, गंध वर्ण, रूप स्वभाव है सो इनकी पर्यायों में उनके प्रकार से परिवर्तन होता है सो इन सवको वह अपना स्वरूप मानता है ज्ञान दर्शन की प्रवृत्ति इन्द्रिय और मन के द्वार से होती है सो यह मानता है कि त्वचा जीभ, नासिका, नेत्र, कान, मन मेरे अंग है इन्ही से मैं देखता जानता हूँ ऐसी मान्यता से इसकी इन्द्रिय विपयों में प्रीति पाई जाती है। यानि अपने से भिन्न जो परपदार्थ और परभाव है उनमें यह एकत्व बुद्धि कर मिथ्यादृष्टि वना हुआ है। उन परपदार्थ और परभाव से भेद विज्ञान नहीं करता। स्व-पर का विवेक नहीं करता इसी कारण संसार वना हुआ है, अव भेद विज्ञान प्राप्त कर ज्ञानी वनकर सम्यक्त्व प्राप्त करो। मोक्ष का बीज वोओ।

चेतन अचेतन पदार्थों से भेदज्ञान:-

यह अज्ञानी जीव अपनी स्वात्मा को भूलकर विपरीत मान्यता के कारण कहां-२ पर में भटका हुआ है, इसको पहले तो प्रथम तो यह अत्यन्त भिन्न ऐसे अचेतन पदार्थों जैसे धन मकान, दुकान, कल कारखाने आदि पर पदार्थों में ऐसी बुद्धि

किये हुये है कि ये मेरे है और मैं उनका हूं । इस मिथ्याबुद्धि के कारण ही यह उनके संग्रह, संचय, सम्वर्द्धन और संयोग, वियोग में दिन रात दुःखी रहकर चिन्तित बना हुआ है। विचार करो कि ये अति भिन्न विजातीय द्रव्य तेरे कैसे हो सकते है। कदाचित् यह उनसे भी हटे तो फिर यह अत्यन्त भिन्न ऐसे स्त्री, पुत्र, माता, पिता, भाई, रिश्तेदार आदि चेतन पदार्थों में अहंकार ममकार बुद्धि किये हुये है कि ये ही मेरे शरण, मेरे सर्वस्व, इन विना मैं क्या ? उनको अपने रूप मानता है। और अपने को उन रूप बनाता है। इसलिये तो पापाचार करके भी उनको प्रसन्न करना चाहता है । अरे सोचो वे अचेतन जिस प्रकार तुम से भिन्न हैं उसी प्रकार ये चेतन भी तुम से पृथक हैं, तेरी आत्मा का उनसे कोई सम्बन्ध नहीं हैं केवल मोह अज्ञान में मानी हुई तेरी विपरीत मान्यता ही है । इन चेतन पदार्थोंसे अत्यन्त भिन्न अपनी आत्मा को अपना मान ।

आँख, नाक, कान आदि रूप औदारिक शरीर से भेद ज्ञानः—

यदि यह अन्य चेतन अचेतन पदार्थों से हटे तो फिर इसकी अटक नाम कर्म के उदय से प्राप्त इस औदारिक शरीर में हो जाती है और यह शरीर से भिन्न अन्य कुछ अपने को मानता ही नहीं । शरीर और आत्मा को एक ही मानता है शरीर की अवस्था को अपनी अवस्था मानता और नाना प्रकार मिथ्याभाव बनाकर दिनरात शरीर की सेवा में ही लगा रहता है । इस शरीर में आत्म बुद्धि होने के कारण ही मैं नारकी, मैं देव, मैं तिर्यंन्च, मैं मनुष्य, मैं गोरा, मैं काला, मैं राजा, मैं रंक, मैं बलवान, मैं निर्बल, मैं स्वामी, मैं सेवक, मैं रूपवान, मैं कुरूप, मैं पुण्यवान, मैं पापी, मैं धनवान, मैं निर्धन

मैं ब्राह्मण, मैं क्षत्रिय, मैं वैश्य, मैं शूद्र, मैं स्त्री, मैं पुरुष, मैं नपुंसक, मैं स्थूल, मैं कृश, मैं ऊंच जाति, मैं नीच जाति, मैं कुलवान, मैं अकुलीन, मैं पंडित, मैं मूर्ख, मैं दाता, मैं याचक, मैं गुरू, मैं शिष्य, मैं ब्रह्मचारी,क्षुलक, त्यागी, मैं मुनि इत्यादिक पर वस्तु जो पुद्गल शरीर उसमें अपना संकल्प कर आर्तध्यान, रौद्र ध्यान कर दुर्गति को पाकर संसार परिभ्रमण करता है। अरे इस देह का स्वरूप तो विचार। यह देह तो पुद्गल द्रव्य है जड़ अचेतन है आठ प्रकार का स्पर्श, पाँच प्रकार का रस, दो प्रकार की गंध और पाँच प्रकार का वर्ण ये आत्मा का रूप नहीं है, पुद्गल का है। ये शरीर तो आहार वर्गणाओं का स्कन्ध है, इसमें जानने देखने रूप चैतन्य शक्ति नहीं। तू चेतन, शरीर अचेतन, तू अमूर्तिक, शरीर मूर्तिक, तू अविनाशी और शरीर विनाशीक, तू पवित्र और शरीर महाअशुचि, तू सुख रूप और शरीर दुःख रूप ऐस जानकर भेद ज्ञान कर।

तेरा स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव रूप स्वचतुष्टय तुझ में और पुद्गल शरीर का द्रव्य, क्षेत्र, काल,भाव रूप स्वचतुष्टय उसमें। दोनों का चतुष्टय भिन्न- २ हैं दूध और पानी की तरह दोनों का मेल होने पर भी दोनों एक नहीं बन जाते भिन्न-२ ही रहते हैं। जब शरीर तेरा नहीं तो नाक,आँख, कान आदि इन्द्रियाँ भी तेरी नहीं फिर तू इन इन्द्रिय विषयों में प्रीति करके दुःखी क्यों बना हुआ है। शरीर से प्रथक अपनी ज्ञान दर्शन स्वभावी अमूर्तिक आत्मा, को ही अपना रूप मान और भेद विज्ञान करके इन्द्रिय विषयों से प्रीति तोड़ सुखी बन।

तैजस और कार्माण शरीर से भेद ज्ञान:—

इस हाड़ माँस और धातु उपधातुओं से निर्मित यह मल पिन्ड रूप औदारिक शरीर के अतिरिक्त प्रत्येक जीव के साथ दो

सूक्ष्म शरीर और हैं, वे हैं तैजस शरीर और कार्माण शरीर। तैजस शरीर के बारे में विचारो। यह जो शरीर में तेज और कान्ति सी रहती है, अन्दर एक इलेक्ट्रिक सी पायी जाती है वह तैजस शरीर के कारण से ही है। यह तैजस शरीरभीपुद्गल द्रव्य है २२ प्रकार की जो पुद्गल वर्गणायें हैं उनमें से एक तैजस जाति की वर्गणा भी है उन्हीं तैजस जाति की पुद्गल वर्गणाओं से यह शरीर बना हुआ है अतः यह शरीर भी रूप, रस, गंध, स्पर्शवालाहै जड़ अचेतन, ज्ञानदर्शनादि स्वभाव से रहित है और मूर्तिक है अतः इससे भी भिन्न मैं हूँ ऐसी श्रद्धा बनाओ।

तैजस शरीर के अतिरिक्त एक कार्माण शरीर भी जो अति सूक्ष्म है वह भी प्रत्येक संसारी जीव के साथ सम्बद्ध है। हालाँकि ये दोनों सूक्ष्म शरीर होने के कारण चक्षु इन्द्रिय के द्वारा देखे नहीं जाते परन्तु इनका कार्य तो हमें अपने अनुभव और बुद्धि में आता ही है ये जो नाना प्रकार की विचित्रता भिन्न-२ जीवों की है कोई दरिद्री कोई श्रीमान्, कोईक्रोधी कोई मानी आदि विभिन्न परिणतियाँ सब उसी शरीरके उदय निमित्तक ही हैं। यह कार्माण शरीरभी कार्माण जातिकी पुद्गल वर्गणाओं से रचित है। रूप, रस, गंध स्पर्श स्वभावी है, मैं अमूर्तिक चैतन्य स्वभावी आत्मा ये कैसे हो सकता हूँ अतः इस कार्माण शरीर से भिन्न अपने स्वात्मा को पहिचानना चाहिये।

इस प्रकार ज्ञानी जीव के ऐसा निर्णय होता है कि मुझ आत्मा से भिन्न अन्य जो अनन्तानंत जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्य हैं उन सबसे मैं अत्यन्त न्यारा हूँ।

भाषा और मन से भेद ज्ञानः—

वचन का पक्ष भी अज्ञानी को बहुत होता है वह बचन, शब्द या भाषा को ही अपना स्वरूप मान लेता है अरे बचन तो

इस आत्मा की इच्छा और प्रयत्न के कारण जो शरीर के अंगों में परिस्पंद होता है उसका निमित्त पाकर भाषा वर्गणा जाति के स्कन्ध वचन रूप परिणमते हैं उन्हेंवचनकहते हैं। इनवचनोंमेंयह मैं हूँ या मैं बोलता हूँ, मैं ऐसा कहूँगा इत्यादि इनसे आत्मीय सम्बन्ध करना सब अज्ञान है वचन भी अचेतन है भाषा जाति कि वर्गणाओं का परिणमन है वह तू कैसे हो सकता है अतः शब्द से भी भिन्न अपने जानन देखन स्वभाव में अहंबुद्धि बना।

अज्ञानी मन को ही आत्मा समझते हैं। परन्तु सोचो कि मन आत्मा है क्या? मन से भिन्न है आत्मा तो। द्रव्यमन तो मनोवर्गणाओं से रचित है जो पुद्गल वर्गणायें ही हैं हृदय-स्थान के दायीं ओर ८ पांखुड़ी के कमलाकार रूप द्रव्य मन की रचना है जो शरीर का ही अंग है, अतः वह भी जड, अचेतन और रूप,रस,गंध,स्पर्श गुणवाला ही है। वहआत्मा कैसेहोसकता है? अथवा शरीर के अवयव रूप मन को निमित्त करके जो विचार कल्पनायें बनती हैं वे भाव मन कहलाती हैं। जो विचार कल्पनाओं को ही आत्मा माने वह भी अज्ञानी है।

शुभाशुभ विकारी भावों से भेद ज्ञानः—

अभी तक तो पर द्रव्यों से भेद ज्ञान की बात चली अब परभावों से भेद विज्ञान करो। ये जो रागद्वेष, क्रोध,मान,माया, लोभ रूप शुभाशुभ विभाव हैं विकारी भाव हैं, ये भी आत्मा नहीं हैं क्योंकि आत्मा तो नित्य है ध्रुव है अनादिअनंत है लेकिन ये विभाव भाव अध्रुव और अनित्य हैं मिटजाने वाले हैं। ये विकारी भाव तो कर्मकृत हैं औपाधिक हैं लेकिन आत्मा स्वतः सिद्ध है कर्म से निरपेक्ष है। ये अध्यवसान रूप समस्तभाव अशरण हैं क्योंकि कर्मोदय छूट जाता है उसी क्षण ये आस्रव नाश को प्राप्त हो जाते हैं, रोका नहीं जा सकता इन्हें। परन्तु स्वयं

रक्षित सहज निराकुल रूप जीव ही शरण सहित है। ये शुभा-शुभ आस्रव भाव सदा आकुल स्वभाववाले होनेसे दुःख रूप हैं। लेकिन सदा निराकुल स्वभाववाला जीव सुख रूप है। आस्रव भाव आगामी काल में भी आकुलता उत्पन्न करने वाले होने से दुःख के कारण हैं। लेकिन समस्त पुद्गल परिणाम का अहेतु होने से आत्मा ही अदुःखफल है। अथवा

जैसे जल में काई है सो मल या मैल है उसकी तरह ये आस्रव भी मैल रूप अनुभव में आते हैं इसलिये अशुचि हैं अपवित्र हैं आत्मा अत्यन्त शुचि है, पवित्र है, उज्जवल है। इतना ही नहीं आस्रव भाव जड़ स्वभावी हैं क्योंकि न ये स्वयं को जानते और न पर को। लेकिन आत्मा इससे अन्यस्वभाववाला, विपरीत स्वभाव वाला है वह स्वयं को भी जानता और परको भी जानता है शुभाशुभ भावों को चिद् विकारकहा है। येआत्मा में उत्पन्न होते हैं लेकिन उसके विभाव हैं, स्वभाव नहीं। कर्म निमित्त से उत्पन्न होने वाले इन भावों को जड़ तक कह दिया है अतः ये रागादिक विभाव औदयिक भाव हैं दोप हैं। इन औदयिक भावों से भी भिन्न अपने आत्मा की प्रतीति करो। सम्यग्दृष्टि के तो ऐसा निश्चय होता है कि मैं एक जानने वाला ज्ञायक रूप अविनाशी, अखंड, चेतना लक्षण, देहादिक समस्त पर द्रव्यों से भिन्न आत्मा हूँ। देह, जाति कुल रूप नाम इत्यादि मुझ से अत्यन्त भिन्न हैं और रागद्वेप, काम, क्रोध, मद, लोभादिक कर्म के उदय से उत्पन्न हुये मेरे ज्ञायक स्वभाव में विकार हैं। जैसे स्फटिकमणि तो आप स्वच्छ श्वेत स्वभाव है उसमें डाक के संसर्ग से काला, पीला, हरा, लाल अनेक रंग दिखैं हैं। तैसे मैं आत्मा भीस्वच्छ ज्ञायक भाव हूँ निर्विकार टंकोत्कीर्ण हूँ मोहकर्म जनित रागद्वेषादिक यामें झलकैं हैं तेमेरे रूप नाहीं पर हैं ऐसे अपने स्वरूप का भी निश्चय करो।

क्षयोपशम ज्ञान से भेद ज्ञानः—

अज्ञानी वहिरात्मा जीव क्षयोपशम ज्ञान को ही आत्म-सर्वस्व मान लेता है जो कल्पना, विचार, छुटपुट तरंग रूप खंड ज्ञान है वह तो मैं नहीं क्योंकि वह तो अमुक-२ ज्ञानावरण के क्षयोपशम के कारण उत्पन्न हुआ है वह मैं कैसे हो सकता हूँ मैं तो अखंड हूँ। अतः क्षयोपशम ज्ञान से भी भिन्न अपने अखंड ज्ञान स्वभाव की प्रतीति करो।

पूर्ण अपूर्ण शुद्ध पर्याय से भी भेद ज्ञानः—

सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र रूप जो शुद्ध पर्यायें हैं यह भी मैं ध्रुव त्रैकालिक आत्मतत्व नहीं। अथवा केवलज्ञान रूप पूर्ण शुद्ध पर्याय मात्र भी मैंनहीं। येपर्याय जिसकी है वह द्रव्य स्वभाव रूप ज्ञान मैं हूँ।

भेद,अभेद और भेदाभेद पक्ष से भी भेदज्ञानः-

इतना ही नहीं स्वतत्व की अनुभूति के लिये मुझ में ज्ञान दर्शन चारित्र आदि भेद हैं अथवा मात्र मैं अभेद ही हूँ अथवा भेदाभेद रूप हूँ ऐसे भी समस्त विकल्प छोड़कर अपने को टंकोत्कीर्ण ध्रुव निर्विकार, निर्विकल्प ज्ञानतत्व रूप स्वीकार कर अन्य समस्त परपदार्थ और परभावों से भिन्न निश्चय करना सो सम्यग्दर्शन है।

स्व-पर भेद विज्ञान के सम्बन्ध में प० टोडरमल्ल जी मोक्ष मार्ग प्रकाशक में लिखते हैं कि-अमूर्तिक प्रदेशोंका पुन्ज, प्रसिद्ध ज्ञानादि गुणों का धारी अनादिनिधन वस्तु स्व है और मूर्तिक पुद्गल द्रव्यों का पिन्ड प्रसिद्ध ज्ञानादिकगुणों से रहित जि-नका नवीन संयोग हुआ है ऐसे शरीरादिकपुद्गल पर हैं।

उक्त प्रकार से स्व-पर भेद विज्ञान से परिणित जीव ही सम्यक्त्व है। यह सम्यग्दर्शन तीनलोक में सर्वोत्कृष्ट अनुपम हार।

पूज्य है। इसी कारण पं० बनारसीदास जी ने सम्यग्दृष्टि को वंदन किया है:-

भेद विज्ञान जग्यो जिनके घट, शीतल चित्त भयो जिम चन्दन।
केलि करैं शिवमारग में, जगमांहि जिनेश्वर के लघुनन्दन॥
सत्य स्वरूप सदा जिनकै, प्रगट्यो अवदात मिथ्यात्व निकंदन।
शान्त दशा तिनकी पहचान, करैं कर जोरि बनारसिवन्दन॥

सम्यग्दर्शन की चौथी परिभाषा :–

सम्यग्दर्शन की तीन परिभाषाओं पर विचार हुआ अब चौथी परिभाषा पर विचार चलता है। पुरुषार्थ सिद्धयुपाय नामक ग्रंथ में श्रीमद्अमृचन्द्राचार्य सम्यग्दर्शन की परिभाषा करते हुये कहते हैं कि "दर्शनमात्मविनिश्चिति" अर्थात् अपनी आत्मा का श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है। यानि "मैं कौन हूँ" यह जान कर अपनी प्रतीति उसी रूप करना सो सम्यक्त्व है। अपने सत्य स्वरूप को जाने विना व्यक्ति कुछ भी पाले वह सब व्यर्थ है। स्वयं को खोकर जिसने सब कुछ पाया है उसने बहुत महगा सौदा किया है वह हीरे देकर कंकण बीन लाया है उससे तो वही व्यक्ति समझदार है जो सब कुछ खोकर भी स्वयं को बचा लेता है जान लेता हैं। स्वयं की सत्ता से ऊपर और कुछ नहीं हैं। इसलिये कहा है–

आत्मज्ञान ही ज्ञान है, शेष सभी अज्ञान।
आतम शान्ति का मूल है, वीतराग विज्ञान॥

आत्मज्ञान का महत्व:-

आत्म ज्ञान ही एक मात्र ज्ञान हैं जो स्वयं को नहीं जानते उनके और सब कुछ जानने का मूल्य ही क्या है? मनुष्य की सबसे बड़ी कठनाई मनुष्य का अपने ही प्रति अज्ञान है। दिये के नीचे जैसे हैं अंधेरा होता वैसे हीमनुष्य उस सत्ता

के प्रति अंधकार में होता है जो कि उसकी आत्मा है। जब हम स्वयं को ही नहीं जानते हैं और तब यदि हमारा सारा जीवन ही गलत दिशा में चला जाता हो तो आश्चर्य करना व्यर्थ है।

आत्म ज्ञान के अभाव में जीवन उस नौका की भांति है जिसका चलाने वाला होश में नही है लेकिन नौका को चलाये जा रहा है जीवन को सम्यक्गति और गन्तव्य देने के लिये स्वयं का ज्ञान अत्यन्त आधार भूत है। मैं क्या हूं? यह जानना बहुत अनिवार्य है और कुछ जानने के पहिले स्वयं को जानने में लग जाओ उसके बाद शेष ज्ञान भी उपयोगी होता है अन्यथा अज्ञानी के हाथ में आया हुआ ज्ञान आत्मघाती ही सिद्ध होता है।

ज्ञान की पहली आकांक्षा स्वयं को जानने की होनी चाहिये क्योंकि यदि उस विन्दु पर अंधकार है तो सब जगह अंधकार है और यदि वहाँ प्रकाश है तो सब जगह प्रकाश है। कहा भी है :–

आत्मज्ञान पाये बिना भ्रमत सकल संसार।
इसके होते ही तरे, भव दुःख पारावार ॥

अथवा-

एकै साधे सब सधै, सब साधे सब जाय।

उपरोक्त सब बात पर विचार करके आत्मा का श्रद्धान करना चाहिये। क्या है आत्मा का स्वरूप और स्वभाव, कैसी प्रतीति करने से सम्यग्दर्शन होता है इस सम्बन्ध में अमृतचन्द्राचार्य ने समयसार कलश में कहा है कि-

आत्मस्वभावं परभावभिन्नमापूर्णमाद्यंत विमुक्तमेकम्।
विलीन संकल्प विकल्प जालं, प्रकाशयन् शुद्ध नयोभ्युदेति ॥

आत्म स्वभाव कैसा है ? यह बतलाने में शुद्ध नय ही समर्थ है। मैं आत्मा स्वतः स्वयं शाश्वत कैसा हूं इस

बात को निरखना है। किसी परवस्तु की अपेक्षा अथवा सम्बन्ध लगाकर किसी को सही नहीं जान सकते हैं अतः आत्मस्वभाव को जानने में समर्थ शुद्ध नय ही है।

मैं कौन हूं कैसा हूं ?

यह मैं आत्मतत्व समस्त परभावों से न्यारा हूं, मैं समस्त परपदार्थों से न्यारा हूं। जितने भी परभाव हैं अर्थात् परकर्मोदय का निमित्त पाकर उत्पन्न होने वाले जो मुझ में परिणाम हैं उन परिणामों से भी मैं न्यारा हूं। यानि मैं पररूप नहीं हूं और परभावों से भी न्यारा हूं। आगे चलने पर मैं खण्ड -२ ज्ञान रूप भी नहीं किन्तु मैं आपूर्ण हूँ अधूरा नहीं हूं, शुद्ध परिपूर्ण हूँ। तब फिर दृष्टि एकजगह अटकी रह सकती है कि मैं केवल ज्ञानादि स्वभाव पर्याय मात्र हूँ क्या ? नहीं क्योंकि यह अनन्तज्ञान मेरे सत्व से तो नहीं हैं अनादि से तो नहीं है यदि मैं उन स्वभाव पर्यायमात्र होता तो उससे पहिले मेरा अस्तित्व ही न समझना चाहिये इस कारण मैं तो वह हूँ जो आदि अन्त से रहित है। तो अब यह निर्णय हुआ कि मैं एक चैतन्य स्वभाव मात्र हूँ। सहजज्ञान रूप सहजआनन्द रूप हूँ इस प्रकार यह आत्मा का अन्वेषक एक चित्स्वभाव तक पहूंचा लेकिन अब भी कुछ बात अटक रही है नहीं तो आनन्द मग्नता नही हो जाती। हाँ ये भेद की बातें भटकाने ही लायक है अपने को नाना रूप माना तब भी वहाँ विकल्प है और एक स्वरूप माना तब भी वहाँ विकल्प है। मैं तो एक हूँ, पकड़ से रहित हूँ, क्या हूँ कह नहीं सकता। इस एक आत्मा की पकड़ रूप विकल्प को छोड़कर ही स्वानुभव होता है हम चाहे एक आत्माको ही जानें किन्तुआत्मा में भी बाँधकरजानेतो स्वानुभूति नहीं होसकती अस्तु यह मैं संकलपविकलपजालों से भी रहित स्वरूपास्तित्व मात्र हूँ, जहां संकलपविकलपके जाल कोई न हों ऐसा

एक शुद्ध तत्व मैं हूँ। (द्रव्यकर्म, भावकर्म नोकर्म, आदि पुद्गल द्रव्यों में अपनी कल्पना करना सो संकल्प है और ज्ञेयों के भेद से ज्ञान में भेद ज्ञात होना सो विकल्प है) ऐसा मैं समस्त संकल्प विकल्प जालों से रहित हूँ। मैं हूँ ऐसा लेकिन मैं अवविकल्पों में आकर समझाऊं अथवा अपने आपको निरखूं तो यह कहना होगा कि मैं समस्त अनात्म तत्वों से न्यारा हूँ यानि मैं शरीर, मन, वाणी और मोह रागद्वेष यहाँ तक कि क्षणस्थाई परलक्ष्यी बुद्धि से भिन्न एक, त्रैकालिक, शुद्ध, अनादिअनन्त,चैतन्य, ज्ञानानन्द स्वभावी ध्रुव तत्व हूँ जिसे आत्मा कहते हैं।

उक्त आत्मा जानने की वस्तु है। यह अनुभूति द्वारा प्राप्त होने वाला समाधान है यह वाणी द्वारा व्यक्त करने और लेखनी द्वारा लिखने की वस्तु नहीं है। वाणी और लेखनी की इस सन्दर्भ में मात्र इतनी ही उपयोगिता है कि ये उसकी ओर संकेत कर सकती हैं। ये दिशा इंगित कर सकती हैं दशा नहीं ला सकती हैं।

करूणा में विशुद्धिः—

इस प्रकार तत्व विचार और स्व-पर के भेद ज्ञान द्वारा जिसे सम्यक्त्व निधि की प्राप्ति हुई है ऐसा दर्शन विशुद्ध ज्ञानी पुरूष के जब स्व-पर करूणा विशेष जागृत होती है तब तीर्थंकर प्रकृति का बंध करता है। यह ज्ञायक स्वरूप शुद्ध तत्व जिसकी दृष्टि में सुलभ उपस्थित है वह पुरूष जगत के जीवों पर जब दृष्टि डालता है तब ज्ञानी को ऐसी अपार करूणा होती है कि अहो ये कष्ट भोग रहे हैं, परिश्रम कर रहे हैं, हैं तो ये सब ज्ञानानन्द स्वरूप, मगर अपने आपके इस मर्म का बोध न होने से, पर की आशा रखकर दीन भिखारी होकर अपने आपको विह्वल बनाये जा रहे हैं व्यर्थ के भ्रम वश परेशान हैं परेशानी को तजकर क्यों नहीं ये सुगम स्वाधीन सहज स्वरूप

को देख लेते हैं?

सत्य करूणा:—

ज्ञानी के यह संकल्प नहीं होताकि मैं तीर्थंकर बनूं और जगत के प्राणियों का उद्धार करूं यह तो अज्ञान भाव है कोई भी ज्ञानी पुरुष कर्तृत्व का भाव नहीं ला सकता। मैं इस जगत के जीवों को संसार के दुःखों से छुटाकर मोक्ष में पहुंचा दूं ऐसी बात ज्ञानी पुरुष के आशय में नहीं है। यह प्राणी जबभी मुक्त होगा तो स्वयं की दृष्टि पाकर स्वयं के रत्नत्रय भाव के द्वारा मुक्त होगा। उसे तो अपार करूणा आ रही है। कोई त्यागी पुरुष, साधु पुरुष कहीं जा रहा हो और रास्ते में कोई भूखा आदमी मिल जाए तो उसे तो करूणा जागृत होती है पर वह कर क्या सकता है? पैसा पास नहीं रखता पर करूणा तो जैसे गृहस्थ को होती है वैसी उन सन्यासियों को भी होती रहती है किन्तु इसको मैं रोटी बनाकर खिलादूं ऐसा परिणाम तो नहीं आता। पर वास्तविक हित पूर्ण करूणा बराबर हो रहीहै। ऐसे ही समझिये कि विश्व के समस्त प्राणियों पर जो कि अपने अज्ञान भाव से बाह्य तत्वों में लगे हुये हैं व्यर्थ संसार भ्रमण कर रहे हैं उनको जानकर इन ज्ञानियों के करूणा उत्पन्न हो रही है, पर मैं इनको उद्धार कर दूं,ऐसा वह कर्तृत्व का संकल्प यों नहीं करता कि करे भी कोई संकल्प तो क्या उद्धार कर देगा? एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में परिणमन करसकेगा क्या? कभी नहीं।

सत्य परिणमन का प्रताप:—

साधु संतों के सहवास से स्वयमेव ही लोगों का उपकार होता है पर साधु संत किन्हीं का कुछ किया नहीं करते। यह दर्शन विशुद्ध अन्तरात्मा विश्व के प्राणियों पर करूणा भाव कर रहा है इसी करूणा भाव की विशुद्धि से वहाँ तीर्थंकर प्रकृति

का वंध होता है। स्व-पर भेद विज्ञान जिसके जागृतहै और स्व का अभेद ज्ञान जिसको अनुभूत हुआ है ऐसा आत्म श्रद्धानी संत पुरूष चाहे असंयत ग्रहस्थ हो या अणुव्रतधारी श्रावकहो अथवा मुनि अवस्था में हो वह तीर्थंकर प्रकृति का बंधकरता है। यद्यपि वहाँ ये ही १६कारणभावनायें होतीहैं,परमैं १६कारणव्रत करूं, १६ कारण भावना भाऊँ और मैं तीर्थंकर हो जाऊं ऐसा मांगने से कोई तीर्थंकर नहीं बनता। कोई देने वाला दूसरा नहीं है कि भगवान को बहकालो अच्छी सामग्री देकर, १६ कारण की बात कह कर मुझे वह तीर्थंकर बना दे ऐसा नहीं होता और न उनसे भिक्षा मांगने से तीर्थंकर पद मिलता है।

परन्तु अभेद भाव से और शुद्ध भाव से अपने प्रभू की स्मृति में जो रत है उसको किसी पर पदार्थ के मांगने की क्या आवश्यकता है। यह मैं आत्मा तो सर्व से शून्य हूँ इसका जब अनुभव होता है तव संसार के समस्त वंधन टूट जाते हैं।

सम्यक्त्व निधि:—

इस प्रकार सम्यग्दर्शन विशुद्ध हो और समस्त प्राणियों के हित का प्रेमी हो ऐसी विशुद्धि होने पर दर्शन विशुद्धि होती है। भैया! आज जो कुछ भी हम आप सबको प्राप्त है वह विस्वासकरने लायक नहीं। ये तो सब अनापसनाप हैं चूंकि येसब पदार्थ हैं जायें कहाँ, कुछ निमित्त कर्मोदय का है, ये मिल गये, लेकिन इनमें सार कुछ मतढूंढो क्योंकि इनकीदृष्टि में मलीनता वनती है वह पतन का कारण होती है। अतः इस वैभव को मूल्यवान न समझो। एक सम्यग्दर्शन ही वास्तविक निधि है जिसके होने पर संसार के समस्त संकट दूर हो जाते हैं।

अब इस सम्यक्त्व को ८ अंग सहित और २५ दोष (शंका,कांक्षा आदि ८ दोष, ८ मद, ६ अनायतन और ३ मूढ़ता) रहित निर्मल होना चाहिये विशुद्ध होना चाहिये। ऐसे निर्मल

सम्यक्त्व को धारण करना ही दर्शनविशुद्ध कहलाता है। अब इन्हीं की चर्चा होगी।

सम्यक्त्व के ८ अंगः—

निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये ८ अंग हैं।

जिस सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष ने अपने सहज स्वरूप का परिचय प्राप्त कर लिया है उन्हें यह अनुभव हो जाता है कि मैं स्वयं ज्ञानानन्द स्वरूप हूं और परिपूर्ण हूं इस श्रद्धा के बल से उन जीवों में इतना बल प्रगट होताहै कि पदार्थ में कैसा भी परिणमन हो उस परिणमन के कारण अपने में कोई शंका नहीं लाते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव ८ अंग से सहित होता है। जैसे मनुष्य शरीर के आठ अग होते हैं और अष्टांग होने पर ही वह शोभा को प्राप्त होता है इसी प्रकार सम्यग्दर्शनभी ८ अंग वाला है। मनुष्य का यदि कोई अंग टूट जाये, अलग हो जाये तो फिर मनुष्य वह कार्य नहीं कर सकता जो अष्टांग पुरूष कर सकता है। मर तो नहीं जायेगा वह, पर उनमें कोई अंग ऐसा विकट कट जाये कि मर्मघाती हो तो मर भी जाये। इसी तरह इस अष्टांग सम्यग्दर्शन का कोई अंग कम हो जाये तो अष्टांग सम्यग्दर्शन का जो फल होता है वह फल इस अंग हीन सम्यक्त्व का नहीं होता। और वह अंग कदाचित इस तरह कटे कि सम्यग्दर्शन के मर्म का ही घात करदे तो सम्यग्दर्शन नष्ट भी हो जाता है। इसीलिये समंतभद्राचार्य ने कहा है कि—

> नांङ्ग हीनमलम् छेत्तु दर्शनं जन्म सन्तितम्।
> नहि मन्त्रोऽक्षर न्यूनो निहन्ति विषवेदनाम्॥

अर्थ—अंग करि हीन जो सम्यग्दर्शन सो संसार की परिपाटी को छेदने में समर्थनहीं होता है जिस प्रकार भी अक्षर करि हीन जो मंत्र सो विष की वेदना को नष्ट नही करता है।

देहाँगों से सम्यग्दर्शन के ८ अंगों की तुलना:—

देखो शरीर के ८ अंगों में भी सम्यग्दर्शन के ८ अंगों की तरह कला बस रही है। मनुष्य शरीर के ८ अंग हैं। २ पैर २ हाथ १ नितम्ब १ पीठ १ हृदय और १ सिर। इन शरीर के अंगों की तरह ही सम्यग्दर्शन के ८ अंग हैं।

जब मनुष्य चलता है मानो दाहिना पैर आगे धरता है तो चलते हुये में निःशंक कदम रखता जाता है। कोई शंका भी वह आगे कदम रखने में करता है क्या? कहीं ऐसी शंका वह नहीं करता कि धरती न धंस जाये, मेरा पैर जमीन में न घुस जाये। वह तो निःशंक होकर शूरता के साथ अपना कदम आगे बढ़ाता है। जब यह मनुष्य चलताहै तो अगला पैर निशंक हो के रखता है सम्यग्दर्शन में एक निःशंकित अंग कहा है तो मान लो जब दाहिना पैर रखते हैं तो वह पैर निःशंकित अंग का प्रतिनिधि बन गया है।

निकांक्षित अंग में भोगों की उपेक्षा रहती है भोगों की आकांक्षा नहीं रहती, हटाव रहता है तो जब दाहिना पैर रखा तो पिछले पैर की क्या हालत होती है? उपेक्षा पूर्वक रखता है वह, उसे हटा देता है उस जमीन को देखता भी नहीं है तो वह दूसरा पिछला पैर निकांक्षित अंग का प्रतिनिधि बन गया।

तीसरा अंग है निर्विचिकित्सा अंग-यानि ग्लानि न करना। मनुष्य टट्टी जाता है और बांयें हाथ से शुद्धि करता है, तिस पर भी किसी प्रकार की ग्लानि नहीं करता, यही हुआ निर्विचिकित्सा अंग। ऐसा यह बांया हाथ निर्विचिकित्सा अंग का प्रतिनिधित्व करता है।

चौथा है कि अमूढ दृष्टि अंग। किसी गलत रास्ते में न वह जाना यही है अमूढ दृष्टि। इसके बड़ा बल होता है और दृढताके साथ वह अपनीबात पेश करता है तो यह दाहिना हाथभी बडीदृढता केसाथ टेबुलठोककर अपनीबात पुष्टकरता है।

कभी जोर से कहने का मौका आये तो बाँया हाथ नहीं ठोका जाता है, दाहिना हाथ ही ठोका जाता है, यह दृढता गलत फैमियों में नहीं है। यह दृढता से अंगुली झटकाकर कहता है कि वस्तु स्वरूप ऐसा ही है तो दाहिना हाथ अमूढ दृष्टि अंग का प्रतिनिधि वन गया।

इसके वाद है उपगूहन अंग - दोषों को छिपाना। प्रत्येक पुरुष अपने नितंव छिपाते हैं तोलिया पहिने हो, धोती पहिने हो तो भी छिपाते हैं तो इन नितंवो के छिपाने में वह छिपाना ही उपगूहन का प्रतिनिधि वन गया। इसके वाद का अंग है स्थितिकरण स्थितिकरण वह कहलाता है जो धर्मात्माओं को स्थिर कर दे मजबूत कर दे। इनका वोझ उठाले। तो ठीक है पीठ पर लादकर ले जाये। वड़ा वोझ पीठ पर ही लादा जा सकता है वह पीठ इस स्थितिकरण अंग का प्रतिनिधि वन गई।

इसके वाद है वात्सल्य अंग। वात्सल्य अंग में धर्मात्मा जनों पर निष्कपट प्रीतिदर्शाई जाती है। इस वात्सल्य अंग का प्रतिनिधि वना है हृदय। वात्सल्य हृदय ही करता है। प्रेम करने का कार्य हृदय ही निभाता है। इसके वाद है प्रभावना अंग। प्रभावना का कार्य सिर से होता है सिर ना हो, सारा शरीर हो तो वह वेकार है। सिर न हो तो प्रभावना का प्रतिनिधि क्या वनेगा? किसी मनुष्य पर प्रभाव पड़ता है तो मुख मुद्रा से और सिर की चेष्टाओं से पड़ता है। अभी कोई मनुष्य मुँह ढके हुये वैठा हो तो उसका डर नहीं लग सकता हैं। कैसा ही वड़ा पुरूष हो उसका संकोच और लिहाज नहीं किया जा सकता। और उघड़ा हुआ सिर हो तो उसका प्रभाव होता है। तो इस प्रभावना अंग का प्रतिनिधि सिर वन गया।

इस तरह शरीर के ८ अंगों की तरह ही सम्यग्दर्शन के ८ अंग होते हैं ।

निःशंकित अंग:—

सम्यग्दर्शन का प्रथम अंग है निःशंकित अंग। इन अंगों के स्वरूप को दो प्रकार से जानो, एक व्यवहार रूप से और एक निश्चय रूप से । व्यवहार निःशंकित अंग क्या है ? तो सच्चे देव, शास्त्र, गुरू के स्वरूप में निःशंक श्रद्धान होना से निःशंकित अंग है तथा इनके द्वारा उपदिष्ट परोक्षभूत बातें जैसे स्वर्गनरक आदि के सम्बन्ध में भी, दीप समुद्र, महापुरूषों की कथायें इन सब के प्रति वह निःशंकरूप से श्रद्धा रखता है । अथवा सन्मार्ग में और तत्वों में शंषयरहित श्रद्धान होना सो निःशंकित अंग है । या अहिंसा में ही धर्म मानना, यज्ञ होमादि जीव घात के आरम्भ में धर्म होगा, ऐसी शंका का अभाव सो तो व्यवहारनिःशंकित अंग का स्वरूपजानो और,इसलोक का भय, परलोक का भय, मरणभय, वेदना का भय, अरक्षा भय अगुप्ति भय और आकस्मिक भय इन सप्त भयों से रहित होना सो निश्चय से निःशंकित अंग है । जिस सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरूष ने स्वानुभव से अपने ज्ञान मात्र स्वरूप को अपना जाना और समस्त पुद्गलों के सम्बन्ध को पररूप जाना इससे ज्ञानी पुरूप को सप्तभय नहीं होते । वह मानता है कि इस देह में पग से सिरतक जो ज्ञान हैं, चैतन्य है सो हमारा धन है। इस ज्ञान मात्र से अन्य एक परमाणुमात्र भी हमारा कुछ नहीं हैं यह शरीर और इस शरीर के सम्बन्धी मुझ से अत्यन्त भिन्न हैं पर द्रव्य हैं, संयोग से उत्पन्न हुये हैं इनसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं क्योंकि जिनका भी संयोग है उनका नियम से वियोग होता है होना है ।

समस्त परद्रव्यों से और परभावों से प्रथक अपने ज्ञान मात्र स्व-रूप को ही अपनी निजी चीज मानता है- इसलिये उसको सात प्रकार के भय नहीं होते वह निःशंक रहता है ।

इस लोक का भयः—

ऐसा भय होना कि इस लोक में हमारी जिन्दगी अच्छी तरह निभेगी या नहीं? अपना परिग्रह, कुटुम्बादिक तथा आजी-कादि विगड़ जाने का भय इस लोक का भय है। गवर्नमेंट के द्वारा वड़े-२ विकट कानून वन रहे हैं। जमींदारी छीन लीं, कई कई उद्योगों का राष्ट्रीय करण कर दिया न जाने इस जीवन में कैसी परेशानी से जीवन चलेगा आदि भय निरन्तर ही पर्याय-दृष्टि वाले जीवों के चला करते हैं।

सम्यग्दृष्टि पुरुष तो जानता है कि मेरा लोक मैंही हूँ। मेरे से वाहर मेरा लोक नहीं है जो देखा जाये उसकानाम लोक है। उसे कोई नहीं जान सकता, उसे मैं ही जानता हूँ, ऐसा मेरे द्वारा मैं ही अवलोका जाता हूँ तो यह लोक मैं स्वयं ही हूँ।यह लोक शाश्वत है, मेरा लोक कभी नष्ट होने वाला नहीं है सदा-काल व्यक्त है अथवा सव जीवों में प्रकट है। इस विविक्त आ-त्मा के शुद्ध स्वरूप को तत्वज्ञानी पुरूप स्वयं ही केवल देखता है ऐसे चेतन लोक को यह मैं अकेला ही अवलोकन करता हूँ। इस लोक में कहाँ से हानि है क्या किसी भी प्रदेश से मेरा वि-नाश हो सकता है? मेरा क्या? जगत के किसी भी पदार्थ का नाश नहीं हो सकता। परिणतियां वदलें यहवात अलग है मगर विनाश नहीं हो सकता। यह मेरा लोक तो सदाकाल रहेगा।

आत्मा तो अविनाशी व क्लेश से रहित है परन्तु तृष्णा-वश ही व्यर्थ में दुःखी बने रहते हैं। यह मेरालोक तो सर्वसंकटों से परे है मैं ज्ञानदर्शन आनन्दआदि अनन्तगुणोंका पिन्डहूँ। अपने में स्वयं पूर्ण हूँ ऐसे परिपूर्ण आत्मा में कहाँ का भय? यदि मेरा

लोक मुझ से वाहर होता तो वाहर के संयोग वियोग के कारण मेरे लोक में फर्क आ जाता। पर मेरा लोक तो मैं ही हूँ अतः इस लोक का भय कहाँ? ऐसा ज्ञान सम्यग्दृष्टि के रहने से वह सदा निःशंक रहता है।

परलोक का भयः—

परलोक अन्य कुछ नहींहै यह ही शाश्वत एक सदा व्यक्त ज्ञायक स्वरूप मैं आत्मा ही इस लोक की भांति पर लोक भी हूँ ऐसा सम्यग्दृष्टि के बोध रहता है ज्ञानीजीव का निसर्गतः अपने ज्ञान स्वरूप की ओर ही झुकाव रहताहै वही उसका परलोक है, परलोक माने उत्कृष्ट लोक। पर का अर्थ उत्कृष्ट भी होता है मेरा उत्कृष्ट लोक यह चैतन्य है यह ज्ञान स्वरूप ही मैं स्वयं परलोक हूँ इस मुझ परलोक में किसी परपदार्थ से कुछ भी बाधा नहीं आती स्वयं ही अपने स्वरूप से चिगकर बाधाउत्पन्न कर डालते हैं। अज्ञानी जिन्हें अपने चैतन्य स्वरूप रूप इसलोक और परलोक का अनुभव नहीं है, वे लोग परलोक की बात में ही भयभीत रहते हैं उनका जो भी धर्म प्रवर्तन चलता है वह सब परलोक के भय के आधार से ही चलता है मेरा परलोक न बिगड़ जाये इसलिये व्रत करें, तप करें, भक्ति करें। मेरा परलोक सुधर जाये, मैं अच्छी गति में जन्म लूं कहीं परलोक बिगड़ गया तो क्या हालत होगी ? यह अज्ञानो को एक भय बना रहता है। परन्तु ज्ञानी को इस परलोक का भय नहीं रहता।

एक तपस्वी पलास के वृक्ष के नीचे ध्यान लगाये थे एक श्रावक भक्त आया। मुनि का भी ध्यान टूटा। धर्म कथा हुई। श्रावक भगवान के समोशरण में जा रहा था वह मुनि से बिदा मांग चलने लगा। मुनि नेकहा मेरे संसार के कितने भव बाकी हैं, मेरा मोक्ष कब होगा? भगवान से पूंछना। श्रावक भगवान के समोशरण में गया। तत्व ज्ञान प्राप्त किया और मुनिराज के

संसारी भवों को भी मालूम किया। वापिस समोशरण से आया तो इसी बीच मुनिराज पलाश वृक्ष के नीचे से उठकर इमली के वृक्ष के नीचे पहुँच गये। श्रावक मुनि को वृक्ष के नीचे बैठा देख खेदखिन्न होता है। साधू ने श्रावक को खेदखिन्न सा देखकर कहा क्या कारण है, तेरे दुःख मनाने का। श्रावक बोलता है कि महाराज! भगवान ने अपनी दिव्यवाणी में आपके प्रश्न का उत्तर दिया है कि आप जिस वृक्ष के नीचे बैठे हैं उतने ही भव बाँकी हैं। मुझे तो इस बात से खुशी हो गईथी क्योंकि आप उस समय पलाशवृक्ष के नीचे बैठे थे, जिसमें कि इने गिने पत्ते थे लेकिन अब आप इमली के नीचे बैठे हैं जिसके पत्तों की गणना करना कठिन है इसी बात को विचार कर मन में क्लेश हो रहा है कि अभी आपके इतने अधिक भव संसार के पड़े हैं। मुनि खुश होते हैं और श्रावक को समझाते हैं कि इसमें अप्रसन्न होने की बात नहीं, खुशी मनाने को बात है। अनादि से कितने भव बीते सो क्या पता? अब यह तो निश्चित हो गया कि इतने ही भव शेष हैं अधिक नहीं। और भैया! देखो इतने भी भव थोड़े काल में निकल सकते हैं एक अन्तर्मुहूर्त में ६६३३६ भवोंसे निपट लिया जाता है। घबड़ाहट का तो कुछ काम भी नहीं। अस्तुज्ञानी को परलोक का भय नहीं होता क्योंकि वह जानता है कि परलोक कहाँ है, मेरा मेरे ही पास परलोक है। क्याहोगा परलोक? क्या मैं नया सत् बन जाऊंगा? यही तो रहेगा सत्, यहज्ञान रहेगा ये गुण रहेंगे, यह मैं रहूँगा। वहाँ भी कोई दूसरानहीं है यह ही ज्ञान मेरा परलोक है। मेरा आत्मा तो ज्ञानदर्शनादि अनंतगुणों के अविनाश पने को धारण करता अखंड है। इस प्रकार का सम्यक्बोध होने से ज्ञानी जीव परलोक के भय से भी निःशंक रहता है।

वेदना भय:—

ज्ञानी जीव को वेदना का भी भयनहीं होता है। वेदना क्या? वेदना का अर्थ क्या! हम समझते हैं वेदना मायने पीड़ा, दर्द, कष्ट। वेदना का यह अर्थ नहीं है। वेदना शब्द विद् धातु से बना है जिसका अर्थ जानना है। वेदना अर्थात् जानना। यह वेदन शब्द से ही वेदना बना हुआ है। वेदना क्या है ज्ञानी के। उसके तो जो उसका निश्चल आत्म स्वरूप है उसी का जानना और वेदन गुजर रहा है। कदाचित् शरीर में कोई विकृति आ जाये और उससे कष्ट उपस्थित हो तो वह वहाँ भी केवल वेदता रहता है वहां भी वेदना बनो रहती है, पीड़ा नहीं किन्तु जानन, ज्ञान। यह आत्मा कर्मबद्ध है, शरीर का बन्धन है, इस प्रकार का कष्ट है यह सब भी ज्ञान में रहता है। ज्ञानी पुरुष ज्ञाता रहा करता है। कष्ट हो तो कष्ट का भी ज्ञाताहै जबकि अज्ञानी कष्ट में यह समझता है कि मैं बरबाद हो रहा हूं, बरबाद हो जाऊंगा। इस ज्ञानी को शरीर में रोग व्याधि वेदना हो जाने से बरबादी का भय नहीं है। जो हो सो हो। सत् कभी नष्ट होता ही नहीं।

ज्ञानी के तो जो निश्चल स्वरूप है उसी का वेदन और अनुभवन रहता है यह मैं नित्य अनाकुल हूँ,अभेद रूप हूँ। ज्ञान-मय आनन्दघन अभेद रूप सबसे न्यारा मैं प्रभु स्वरूप हूँ वेद-नीय कर्म जनित सुख दुःख रूप वेदना मोह से दिखतीहै सो मोह और शरीर मेरा रूप नहीं,मैं इससे भिन्न ज्ञाता हूं। ज्ञान वेदना से देह वेदना को प्रथक जानता है वह। देखो सनतकुमार चक्रवर्ती को कोढ हो गया। देव वैद्य चिल्लातारहा परन्तु उससे यहीकहा कि हमें इस कोढ की परवाह नहीं है हमें तो जन्म मरण और भव रोग मिटाने की परवाह है। वह देव चरणों में गिर गया, बोला, महाराज उस रोग के वैद्य तो आप ही हैं। हम जैसे कि-

करों से यह कहां बन सकता है । तो अपने स्वरूपास्तित्व के दृढ किले से गढा हुआ होने से वह ज्ञानी पुरुष किसी अन्य के द्वारा बाधित नहीं हो सकता । इस शरीरादि से वेदना ही नहीं उत्पन्न होती । समस्त परवस्तुओं से पृथक निज ज्ञान स्वरूप का अनुभव कर चुकने के बल से उसके यह दृढ संकल्प रहता है कि परवस्तु किसी भी रूप परिणमें उसके किसी भी परिणमन से यहां रंच भी प्रभाव नहीं पड़ता है यदि मैं ही अपने आपका परिणमन करूं तो अपने आप प्रभावित होता हूं दूसरे पदार्थों से मैं प्रभावित नहीं होता। ऐसी वस्तु स्वतन्त्रता का भान सम्यग्दृष्टि पुरुष के होता है । जब अन्य परपदार्थों से इस आत्मतत्व में कोई वेदना ही नहीं आती तो फिर वेदना का क्या भय ? ज्ञानी जीव ऐसा जानता हुआ निःशंक रहता है। ज्ञानी जीव का ज्ञान वेद्य-वेदक भाव को निर्भेद करता हुआ अर्थात् जानता हुआ भाव और जानने वाला भाव इनको निर्भेद रूप से जानता है ज्ञान और ज्ञेय का का भेद नहीं उठता । ऐसी स्थिति में अनाकुल होकर वह एक अचल ज्ञान को ही वेदता है। परमार्थतः ज्ञान अन्य को वेद ही नहीं सकता। यह जीव अहं बुद्धि रखकर रागभाव के कारण कल्पना करता है कि मैं ठंडा हो गया, मुझे बुखार आ गया, मेरे मैं धौंकन हो रही , रागवश ऐसा अनुभवा जाता है। परमार्थतः यह जीव अपने ज्ञान को ही वेद रहा है । जैसे आम चूसते हुये में यह जीव आम के रस का अनुभव नहीं कर सकता है। कल्पना करता है कि मैंने आम के रस का स्वाद लिया चूस लिया, पर वस्तुतः आम के रस विषयक ज्ञान को करता है उसके साथ राग लगा है, इस कारण उस प्रकार का सुख परिणमन करता है और साथ में अज्ञान लगा है इस लिये आम की ओर आकृष्ट होता है और समझता है कि

मैंने आम से सुख पाया। यह जीव आम के रस का अनुभव नहीं कर सकता। आम के रस विषयक ज्ञान का अनुभव करता है। यह जीव शरीर की पीड़ा का अनुभव नहीं कर सकता। शरीर विषयक हरकतों के ज्ञान का अनुभव कर सकता है। साथ ही राग लगा हो तो संक्लेश रूप परिणमन बन जायेगा पर शरीर की वेदना को यह जीव नहीं जानता है। यानि ज्ञान के द्वारा स्व ही अनुभवा जाता है शरीर नही। निमित्त नैमित्तिक बंधन रूप पड़े हुये इन शरीर अणुओं से ज्ञानी जीव का मन ही नहीं मिल रहा वह उससे अत्यन्त भिन्न अपने ज्ञान स्वभाव में ही स्वत्व वुद्धि किये हुये है उसे ही वेदता है अतः इस तरह शरीर आदि वेदनाओं से निःशंक और निर्भय होता हुआ यह ज्ञानी पुरूष स्वयं सदा सहज ज्ञान स्वभाव का ही अनुभव किया करता है।

मरणभयः—

सबसे प्रधान भय मरण का है मरण का भय ज्ञानी पुरूष के नहीं रहता है। इन्द्रिय आदिक प्राणों के विनाश को ही तो इस लोक में मरण कहते हैं और ये इन्द्रियादिक प्राण आत्मा के परमार्थ स्वरूप नहीं हैं निश्चय से इस आत्मा का ज्ञान ही प्राण है जो अविनाशी है इस आत्मा का मरण ही नहीं है ऐसा स्पष्ट वोध रहने से ज्ञानी के मरण का भी भय नहीं रहता है। लेकिन अज्ञानी जीव इस नश्वर शरीर को ही सर्वस्व समझते हैं उसको ही अपना स्वरूप जानते हैं। मैं चैतन्य प्राण का धारी अविनाशी हूं ऐसा वोध न होने से जरा सा भी कल्पना में ऐसा आवे कि अब तो मरण होने वाला है तो कितने भयभीत होते हैं कि मरण होगा। बहुत मुश्किल से यह मनुष्य भव पाया इसे छोड़कर जाना होगा इतना धन संचय किया इस-का वियोग होगा ऐसी कल्पना करके उसका क्लेश कई गुणा बढ

जाता है। जबकि ज्ञानी जानता है कि जो मेरा है वह मेरे से कभी बिछुड़ नहीं सकता। मैं तो यह आत्मतत्व ज्ञानदर्शन करके परिपूर्ण हूं मेरा प्राण ज्ञान और दर्शन है ये जो पौद्गलिक १० प्राण हैं वे द्रव्य प्राण हैं इनका वियोग होताहै सो यह मेरी चीज नहीं है मैं तो ज्ञानदर्शन स्वरूप हूं, काहे का मरण। वह तो निःशंक होता हुआ अपने ज्ञान स्वरूप का ही संचेतन करता है यह मैं तो पूरा का पूरा अकेला हूँ और कहीं जाऊंगा तो अकेला ही जाऊंगा, पूरा का पूरा जाऊंगा। जैसे किसी बड़े आफीसर का तबादला हो तो उसे क्या परेशानी, नौकर, इज्जत, रेलगाड़ी का डिब्बा आदि सब सुविधायें उसको उपलब्ध रहती हैं। यों ही इस मरने वाले पुरुष को जिसका कि तबादला हो रहा है पुराने शरीर को छोड़कर नये शरीर में जा रहा है, अपना समस्त स्वरूप समस्त ऋद्धि साथ में ले जायेगा उसे कोई आफत ही नहीं। ज्ञानी पुरुष को मरण का रंच भी भय नहीं होता।

अरक्षा भयः—

दर्शनविशुद्ध अन्तरात्मा के अरक्षा भय भी नहीं हैं जबकि अज्ञानी जन सदा इस चिन्ता में रहा करते हैं कि मेरे को इस जगत में कोई शरण नहीं है। मेरी रक्षा किससे होगी। पराधीन और परोन्मुख भाव बनाकर वह निरन्तर दूसरे से रक्षा की याचना करता है। जबकि ज्ञानी जानता है कि जो पदार्थ सत् है वह कभी नाश को प्राप्त नहीं होता है जो सत् है वह सत् के कारण अविनाशी हुआ करता है उसका यहाँ कोई सर्वथा अभाव कैसे कर सकता है। भले ही हवा का पानी बन जाये या पानी की हवा हो जाये फिर भी सद्भूत तत्व तो रहता ही है सत् का कभी अभाव नहीं होता। यह ज्ञानमय आत्मतत्व स्वमेव सत् है फिर दूसरे पुरुषों से इसकी क्या रक्षा कराना। किसी भी सत् को कुचलकर पीटकर जलाकर क्या अभाव किया जा

सकेगा? नहीं। पुद्गल काटे पीटे जा सकते हैं तिनतक का तो अभाव है नहीं फिर जो अमूर्त है ग्रहण में नहीं आता है ऐसे इस चैतन्य सत् के अभाव ही क्या कल्पना की जा सकती है? किसी भी पदार्थ से अरक्षा नहीं है। शरीर भी छूट जाये तब भी मैं स्वरक्षित हूँ। यहाँ से कहीं भी चला जाऊं तब भी में स्वरक्षित हूँ इसकी अरक्षा नहीं हो सकती है। फिर ज्ञानी जीव को भय कहां से हो वह निःशंक होता हुआ सतत् सहज ज्ञान का ही अनुभव करता है। लौकिक अरक्षा की दृष्टि से भी देखो तो पुण्य उदय लौकिक रक्षा के योग्य है। पुण्यहै तो लौकिक अरक्षा भी कोई नहीं कर सकता। और कभी न रहा पुण्य उतना तो लौकिक अरक्षा में स्वयं पहुँच जायेगा। परमार्थ से तो रक्षा है पवित्र भाव, स्वभाव दृष्टि का स्वालम्बन का भाव और अरक्षा है परावलम्बी भाव। सो स्वालम्बी भाव में रहते हुये के अरक्षा का कोई प्रश्न ही नहीं रहता। वह तो स्वयं सुरक्षित है।

भैया! जिसका उदय अच्छा है उसके स्वयमेव रक्षा का प्रयत्न व उपाय बन जाता है श्रीपाल को धवल सेठ ने समुद्र में गिरा दिया, श्रीपाल किसी लकड़ी या किसी अन्य चीज का सहारा पाकर किनारे पहुँच गये, उस राज्य के राजा का यह वचन था कि जो इस समुद्र को तैरता हुआ किनारे आवे उसे आधा राज्य देंगे और उससे अपनी लड़कीको शादीकर देंगे। तो जिसका उदय अच्छा है उसकी रक्षा स्वयमेव होजाती है जिसका उदय खोटा है उसकी दूसरा कौन रक्षा करेगा? खोटे लोग अपनी कल्पना में अरक्षित हैं फिर भी पदार्थोंके स्वरूप की ओर से उदय खोटा हो तो इस चेतन निज वस्तु का तो नाशकभी नहीं होता।

ज्ञानी जीव तो सतत् निरन्तर अपने ज्ञान का अनुभव करता है सम्यक्त्व के होने पर स्वरूपाचरण चारित्र होता है जिसका कार्य है कि अपने स्वरूप में अपनाआचरण बनाये रहना

यह आचरण कहीं दृष्टिरूप है, कहीं आश्रय रूप है कहीं आलम्बन रूप है अनुभवन रूप है और कहीं परिणमन रूप है। स्वरूपाचरण सम्यक्त्व होते ही प्रगट होगा और यह अनन्तकाल तक रहेगा। सिद्धों में भी स्वरूपाचरण रहता है देशव्रत, सकलव्रत ये तो अध्रुव हैं, सहेतुक हैं स्वभाव भाव नहीं हैं किन्तु आत्मा का यह अकलंक सहज स्वरूप स्वतः सिद्ध है अनादि अनन्त है जबसे वस्तु है तब ही से इसके साथ तन्मयता भी है ऐसे सहज ज्ञान से यह ज्ञानी जीव निःशंक होता हुआ अपनेआपका अनुभव करता है। यों ज्ञानी के अरक्षा का भय नहीं होता।

अगुप्ति भयः—

अज्ञानी पुरूप अपनी कमजोरीसे अपने साधनों की कमी देखकर, घर अच्छा नहीं, किवाड़ मजबूत नहीं, गाँव भी सुरक्षित नहीं ऐसी अनेक बातों कोदेखकर भयशील बनारहता है हायमेरी रक्षा का स्थान दृढ नहीं है, न मेरे किला है जिससे कि शत्रु रुक जाये। न मेरे पास कोई ऐसा आवरण है कि दुष्ट जन अथवा विरोधी जन मेरे पर आक्रमण न कर सकें ऐसा भी भय अज्ञानी जीव के बना रहता है। किन्तु ज्ञानी जानता है कि मेरा स्वरूप ही दृढ दुर्ग है जिसका भेदन अणुमात्र भी कोई पदार्थ नहीं कर सकता। चोर कुछ चोरी कर लेंग ऐसा भय उसे नहीं। प्रत्येक वस्तु अपने स्वरूप रूप से सदा है। चैतन्य स्वरूप जो मैं आत्मा सो इसमें किसी पर का प्रवेश ही नहीं। मेरा अनंत वैभव कोई नहीं चुरा सकता। हांलाकि ज्ञानी पुरूप गृहस्थ पदवी में बहुत से प्रसंगों में रहता है वहां झंझट भी है, गृहस्थी भी बसाई है, धन का भी सम्बन्ध है पर उसके अन्तरंग में इतना महान साहस भरा हुआ है कि कोई अवसर ऐसा आ जाये कि कुछ भी न रहे तो भी कोई हर्ज नहीं। यह मैं तो परिपूर्ण निजज्ञायक स्वरूप मात्र हूँ, मेरा क्या बिगाड़ है इतना गाँऽ का बल है जिस बल

पर वह सदा सुखी रहता है।

ज्ञानी जीव अगुप्ति भय से प्रथक अपनेआपको देख रहा है। वह जानता है कि वस्तु का निज स्वरूप ही वस्तु की परम गुप्ति है इस स्वरूप में कोई भी परपदार्थ रंच भो प्रवेश नहीं कर सकता। न अन्य जीव प्रवेश करता है न कोई पुद्गलादिक द्रव्य प्रवेश कर सकते हैं। एक क्षेत्रावगाह भी हो जायें फिर भी स्वरूप में प्रवेश नहीं होता। हाँलाकि अनादिकाल से आज तक आत्मतत्व इस विभाव और पर शरीरादिक के निमित्त नैमित्तिक बनने में ऐसा रहा आया है कि एक तान होकर उनमें विस्तृत रहा तिस पर भी आत्मा का स्वरूप मजबूत और गुप्त है। सब पदार्थ अपने-२ स्वचतुष्टय मेंही रहते हैं, अपनी-२ जगह अपने-२ स्वरूप में सभी गुप्त हैं ऐसा अवगम इस ज्ञानी जीव को वस्तु-स्वरूप के दर्शन में होता है अतः उसे किसी ओर से भी भयनहीं रहता है। परपदार्थों का मेरे में कदाचित भी प्रवेश नहीं हो सकता। हम बिगड़ते हैं तो अपने आपकी परिणति से बिगड़ते हैं सुधरते हैं तो अपने आपकी परिणति से सुधरते हैं ऐसा इसज्ञानी जीव के अपने दृढ स्वरूप का भान है अतः उसको अगुप्ति भय नहीं होता। वह तो निःशंक होता हुआ निरन्तर स्वयं ही अपने अनादि अनंत अहेतुक असाधारण सहजज्ञान स्वरूप का ही अनुभव किया करता है। इस प्रकार अगुप्ति भय से सम्यग्दृष्टि दूर है।

आकस्मिक भयः—

एक आकस्मिक भय होता है किसी ओर अकस्मात कोई उपद्रव न आ जाये, उपसर्ग न आ जाये, कोई बिखरे बादल हैं, बिजली कड़ककर हम पर न गिर जाये, यह मकान की छत न गिर पड़े ऐसी अटपटीं आकस्मिकबातें कोई सोचेतो वह कितना

मूर्ख है। एक बनिये के यहाँ ठाकुर सा० आये गाँव के। बैठ गये उसके सामने, होने लगी कुछ बातचीत। वे ठाकुर सा० बन्दूक लिये हुये थे। बन्दूक की नाली का मुँह बनिये कि तरफ न था फिर भी बनिया बोला कि ठाकुर सा० इसको नीचे उतार कर धर लो। हमें डर लगता है कि कहीं बन्दूक की गोली निकल न पड़े। ठाकुर सा० बोले अरे आप डरते क्यों हैं इसका तो मुंह भीगोली निकलने का दूसरी तरफ ही है, गोली तो इस उल्टा तरफ से निकल भी नहीं सकती। बनिया बोला कि क्या मालूम हजार बार टोंटी के मुँह से गोली निकलती है अबकी बार इसी तरफ से न निकल पड़े। तो अज्ञानी जीव इस तरह के आकस्मिक भयों से भयभीत रहता है। पर ज्ञानी को भय नहीं होता। क्योंकि ज्ञानी पुरूष तो जानता है कि इस मुझ आत्मा में कोई दूसरा पदार्थ आ ही नहीं सकता। दूसरे पदार्थ से मुझमें कोई वृत्ति बने ऐसा नहीं होता है। आत्मा तो सदाकाल शुद्ध है दृष्टा है अचल है अनादि अनन्त है स्वभावत: सिद्ध है इसमें अचानक कुछ नहीं होगा। जैसे सफर में चल रहा मुसाफिर अपने पास भोजन रखे है टिपिन बोक्स रखे हैं तो जैसे वह निःशंकरहता है, जब भी भूख लगी, टिपिन बोक्स खोला और खा लिया, कोई कष्ट नहीं है यों ही जब तक कि यह संसार यात्रा है तब तक ज्ञानी पुरूष के पास ऐसा अनोखा भोजन है ऐसा अनुपम टिपिन बोक्स है कि उसे कभी शंका ही नहीं रहती। जब चाहे किसी समय, जब दृष्टि हुई अपनी इन्द्रियों को संयत किया आंखों को बन्द किया और अन्तर में अपने आपकी स्वभाव दृष्टि की कि लो सारे संकट उसके टल गये। कोई अशान्ति नहीं रही, अब उसे क्या शंका है उसे क्या भय है?

लोक में दो चीजों का भय मानता है यह प्राणी, एक जीवन क्षय का और एक धन क्षय का। जिसको जीवन और

धन ये दोनों ही भिन्न अहितकारक असार न कुछ नजर आते हैं जो उनसे विरक्त है उसे किसी चीज का क्या भय ? वह तो जानता है कि मेरा जीवन तो मेरा ज्ञान दर्शन है मेरा धन तो मेरा निजी स्वरूप है। मुझ में जो हो सकता है वही होता है जो नहीं हो सकता हैं वह त्रिकाल नहीं हो सकता है। ऐसा सोचने से आकस्मिक भय सर्व समाप्त हो जाता है। सभी द्रव्य हैं अपने स्वरूप से हैं, परिणमते हैं और अपने में ही परिणमते हैं ये विशेषतायें प्रत्येक द्रव्य में स्वरसत: पायीं जाती हैं। कोइ भी पदार्थ कभी भी इस वस्तु स्थिति को नहीं छोड़ सकता जब वस्तु स्थिति ऐसी है तो मुझ में किसी दूसरे पदार्थ से उपद्रव आ जाये यह कैसे हो सकता है।

ज्ञानी जीव सदा सहज ज्ञान स्वरूप का अनुभव करता है ज्ञान स्वभाव सहज परिणामिक भाव है इसकी दृष्टि निकट संसारी जीव को होती है भव्य जीव को ही होती है जिसने इस आत्मदर्शन की उपलब्धि की, वह कृतकृत्य हो गया और जिसने इस आत्मदर्शन को ना पाया भले ही उसने पुण्य के उदय से कितना ही महान वैभव पाया हो वह समस्त वैभव इस जीव के हित का कारण नहीं है, प्रत्युत अहित का ही कारण है। यह ज्ञानी जीव समस्त पर पदार्थों की ओर से निःशंक रहता है उसके किसी भी प्रकार का कोई विकल्प नहीं हो सकता, आँधी चले, आग जले, तूफान चले, सारे लोक में ही हल्ला मचे, पर वह ज्ञानी तो आकाशवत्, निर्विकल्प ज्ञानमय आत्मस्वरूप को देखता है। ज्ञानी पुरुष के सहज ही ऐसा गुण होता है कि वह सप्त भयों से रहित अपने को अनुभव करता है। ऐसा यह अन्तरात्मा जब जगत के प्राणियों के स्वरूप की ओर दृष्टि देता है तो उसे एक टीसनी पहुँचती है कि अहो कितना तो सुगम उपाय है, आनन्दपाने का अपने

आपको पवित्रतम और आनन्दमय बनाने का किन्तु अपने आपके आनन्दस्वरूप का विस्मरण करके इन विषय भोगों से भीख मांगता फिर रहा है इनकी दृष्टि जगे, अपने आपमें रमने की पद्धति मिले ऐसी परम करुणा का भाव होता है इस भाव के फल में यह महात्मा भविष्यकाल में धर्म का विशेष नेता बनताहै।

निःकांक्षित अंगः—

निःकांक्षित अंग को भी दो तरह से जानना चाहिये एक तो व्यवहार रूप से और दूसरे निश्चय रूप से । धर्म को धारण करके अज्ञानी जीव संसारिक सुख की वान्छायें करता है। संसार, देह भोग की वान्छा धर्म धारण करके ना करना सो व्यवहार से निःकांक्षित अंग है। इन्द्रियों के विषयों की चाह करना संसारी जीवों के प्राकृतिक हो जाता है ऐसी इच्छा धर्ममार्ग में रहकर ज्ञानी पुरुष अपनी श्रद्धा को दूषित नहीं करता। धर्म को धारण करके उसके फल में इन्द्रिय के साधनों के समागमों को चाहना यह विभाव श्रद्धा को दूषित कर देता है अतः ज्ञानी पूजा करके, तीर्थ यात्रा करके, गुरु की उपासना करके अहारदान करके मेरे बहुत पुण्य होगा और अटूट धन की प्राप्ति होगी ऐसा भाव ज्ञानी के नहीं होता।

सम्यग्दृष्टि टंकोत्कीर्णवत ज्ञायक स्वभाव का उपयोगी है इसी कारण किसी भी कर्मफल में और सर्ववस्तुधर्मों में कांक्षा को नहीं करता है यह है निश्चय से निःकाँक्षित अंग। जो ज्ञानी अनुपम स्वाधीन आनन्द को प्राप्त कर चुका हो वह पराधीन बिनाशीक सुख की वान्छा कैसे करे। ये जगत के सुख तो पराधीन हैं क्योंकिइन सुखों का मुख्य कारण तो कर्मोदय है - कर्मोदय अनुकूल हो तो ये सुख प्राप्त हों, इतना हो नहीं

इन्द्रिय ठीक होवे बाहरी नोकर्मरूपसर्व आश्रय ठीक रहें आदि बातों की अपेक्षा से यह सुख पराधीन हैं। चलो पराधीन ही सही लेकिन जब मिला तब तो अच्छा है ना ? ऐसा नहीं सोचना चाहिये क्योंकि जो सुख उत्पन्न होकर नष्ट हो जाने वाला हो, जो विनाशीक हो उसके पाने का क्या आनन्द है ? सम्यग्दृष्टि जानता है कि संसार का जो सुख मिलता है वह नियम से यथाशोघ्र नष्ट होजाया करता है यानि यह सुख विनाशीक है अत: सम्यग्दृष्टि को जगत के सुख का आदर नहीं होता है।

कोई कहे कि रहने दो पराधीन और रहने दो विनाशीक मगर जिस क्षण वह सुख मिल जायेगा उस क्षण तोवह जीव मौज पा ही लेगा तो इतनी भी बात नहीं है कोई भी जगत का सुख ऐसा नही है जिसके भोगने के बीच २ में दु:ख न आया करते हों कोई भी सुख ऐसा नहीं है धन के अर्जन का, पुत्र के विवाह का। सारे लौकिक सुख दु:ख से भरे हुये हैं कौन सा सुख ऐसा है जो निरन्तर शान्ति को बहाता हुआ उत्पन्न होता है ये समस्त सुख दु:खों से भरे हुये हैं और फिर इतना ही नहीं यह भी अनर्थ है इनमें, कि ये पापबंध करा देने में कारण हैं। पाप के बीज हैं आगामी काल में कई गुणा दु:ख देकर के यह सुख अपनी कसर निकालेगा जैसा कि रत्नकरंड श्रावकाचार में श्री समंतभद्राचार्य ने कहा है कि:–

> कर्मपरवशे सान्ते दु:खै रन्तरितोदये।
> पाप बीजे सुखेऽनास्था श्रद्धाना कांक्षणा स्मृता॥

अर्थात् जो सुख कर्म के पराधीन है, नष्ट हो जाने वाला है, बीच बीच में नाना प्रकार के दु:खों से सहित है और पाप का बीज है ऐसे इन्द्रिय जनित सुख में सम्यग्दृष्टि निरीह होता है।

ज्ञानी जीव को तो विलक्षण परम शरण हितरूप केवल निज ज्ञायक स्वरूप का अनुभव ही जंच रहा है विशुद्ध दृष्टि वाले को तो वाकी और सब चीजें आकुलता रूप हैं सर्व लौकिक सुख और दुःख सब एक हैं। वह मात्र केवल अतीन्द्रिय सुख की ही रट लगाये है शेष सब उसकी दृष्टि में असार हैं वह एक मात्र आत्मा को ही चाहता है क्योंकि एक आत्मा के मिलने पर ही सब उपलब्ध हो जाता है।

एक बार एक राजा किसी कार्यवश विदेश गया। वहाँ का कार्य होने के बाद जब वह राजा वहाँ से अपने देश वापस लौटने लगा तो उसने सोचा कि विदेश आये हैं यहाँ से कुछ सामान अपनी रानियों के लिये ले जाना चाहिये। राजा ने अपने मंत्रियों से पूछा क्या ले जाना चाहिये रानियों को। मंत्री ने कहा अच्छा हो कि एक-२ पत्र सब रानियों को लिखें और प्रत्येक को पूछें कि उन्हें क्या-२ चाहिये। ऐसा ही किया गया, प्रत्येक रानी को एक-एक पत्र लिखा इसी आशय का और लिफाफे में बन्दकर डाल दिया। पत्र रानीयों को मिले, पढ़े उन्होंने बड़ी प्रसन्न हुई वे। सबने जोचीज उन्हें मंगाना थी लिखदी पत्र में और डलवा दिये पत्र। पत्र राजाके पास आये। सभी रानीयों के पत्रों को पढ़ा। सब रानीयों ने तो स्पष्ट जो भी उन्हें सामान चाहिये था साड़ी जेवर आदि वह सब लिखा लेकिन राजा की जो सबसे छोटी रानी थी उसने कुछ भी नहीं लिखा था केवल एक कागज पर एक का अंक लिखा था जब उसके पत्र को पढ़ा तो राजा को कुछ समझ में ही नहीं आया कि ये क्या चाहती हैं? मंत्रियों को भी उसका पत्र दिखाया गया कोई भी नहीं समझ पाया उसके पत्र का आशय। काफी सोच विचारने के बाद एक मंत्री बोला राजन्! ये रानी कुछ नहीं चाहती, केवल एक आपको ही चाहती है आपको घर से आये

यहां मर्यादित समय से ज्यादा समय हो गया ये व्याकुल है आपको देखने के लिये और कुछ नहीं चाहिये इसे, ये आशय है इस पत्र का। राजा बात सुनकर वड़ा प्रसन्न हुआ और उसे भी यह बात जच गई। सब रानियों ने जो-जो भी चीज मंगाईथी, वे-वे सब चीजें राजा ने लीं। जिस छोटी रानी ने कुछ नहीं मंगाया था उसके लिये सर्वाधिक सामान लिया और वापस लौटा। घर आने पर सब रानियों का सामान तो नौकरों के हाथ भेज दिया लेकिन छोटीरानीकेपास स्वयं पहुँचा सबसामान लेजाकर। रानी से पहिले तो राजा ने स्वयं पूंछा कि तुम्हारे पत्रका आशय क्या था तो जो मंत्री ने बताया था वही कहा। उसने कहाकि हे स्वामिन्! आपकी ही चाह थी मुझे। जहां आप हैं मेरे पास,तो सब कुछ मेरे पास है और एक आप नहीं हैं तो सर्व कुछ बना रहे उसकी क्या कीमत ? तो इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि केवल एक आत्मराजा के अतीन्द्रिय सुख को ही चाहता है अन्य इन्द्रिय विषयादि सुख कुछ भी नहीं चाहता।

सम्यग्दृष्टि की दृष्टि में अन्य वैभव की कोई कीमत ही नहीं। आत्मा रूपी राजा के मिलने पर सर्व कुछ पा लिया जाता है वहां फिर अन्य वस्तुओं की चाह रहतो ही नहीं। उसकी दृष्टि में:—

चक्रवर्ती की सम्पदा, इन्द्रसारिखे भोग।
काकवीट सम गिनत हैं सम्यग्दृष्टि लोग॥

यह वात हमेशा समायी रहती है कारण कि विशुद्ध सम्यग्दर्शन है। सुख होता है पुण्यके उदयसे और दुःख होना है पाप के उदय से। इस ज्ञानी पुरूप को तो पुण्य का उदय और पाप का उदय दोनों एक दिख रहे हैं यह तो अपने ज्ञान प्रकाश के अनुभव में ही रूचि रखे है। यही कारण है कि पुण्य पापबंध के कारण भूत विभावों में भी यह समानबुद्धि रखे है और केवल

एक ज्ञायक स्वरूप की उपासना में ही रत रहने का भाव बना है। अपना आदर केवल एक इस ज्ञानस्वरूप अन्तस्तत्व में ही बनो। इन्द्रिय विषयों के झंझटों में आदरबुद्धि मत बनो। इन्द्रिय जनित सुख को तो वह विष के समान जानता है परलोक में इन्द्रपना चक्रीपना आदिक पद भी वह नहीं चाहता। आकुलता रूप विनाशीक केवल दुःख रूप ही उसे अहमिंद्र लोक का सुख दीखता है। इन विषयों का फल आगे असंख्यात काल तक तिर्यन्चादिक गतियों में महादरिद्री, महारोगी, कुमानुषों में उपजना है। इनकी चाह तो बहिरात्मा के होय है ज्ञानी के कैसे होय।

ज्ञानी सब प्रकार के वस्तु धर्मों में अथवा कुधर्मों में वान्छा उत्पन्न नहीं करता मिथ्यात्व रूप कोई कुधर्म चमत्कार सम्पन्न होने से कायर जनों को सत्पथ की दृष्टि से विचलित कर सकने के कारण हैं ऐसे कुधर्म में उसकी वान्छा उत्पन्न नहीं होती, उसे लौकिक चमत्कार की क्या आवश्यकता? उसे तो स्वभाव दृष्टि चाहिये जिसके प्रताप से कि संसार के समस्त क्लेशों से मुक्त हो सके। पंचेन्द्रिय विषयों की वान्छा का विकल्प होना उसके लिये कलंक है क्लेश है। वह ही आत्मासम्यग्दृष्टि है जो संसार के सुखों की वान्छा से रहित है। ज्ञानीके यह प्रतीति है कि मेरा ज्ञान स्वरूप समस्त परपदार्थों से और परभावों से हटा रहने का स्वभाव रखता है। यह स्वभाव कभी भी किसी विभाव या परपदार्थ में मिल नहीं सकता। ऐसें, अछूता निर्लेप अवंध आत्मस्वभाव को निरखने वाला ज्ञानी पुरुष विभाव में व परपदार्थ में मुग्ध नहीं होता उसे तो कल्याणमय केवल अपना स्वरूप ही दृष्ट होता है।

ज्ञानी जीवों के यद्यपि चारित्र मोहनी कर्म के उदय से परवश इन्द्रियों से उत्पन्न हुये सुखों का अनुभव होता है और चक्षु रसना आदि इन्द्रियों के रूप रस आदि इष्ट पदार्थों का

सेवन करता है परन्तु वह अपने चित्त में यही समझता है कि ये सब विषय सुख त्याग करने योग्य हैं कभी भी सेवन करने योग्य नहीं हैं। ज्ञानी जीव इस प्रकार का श्रद्धान करता है कि मेरा आत्मा हाथ में दीपक लेकर अंध कूप में गिर रहा है अतः मुझे वारम्बार धिक्कार है इस प्रकार अपने आप की आत्मनिन्दा करता है और व्रतादि शुभाचरण करता हुआ भी उनके उदय-जनित शुभफलों की वान्छा नहीं करता। किन्तु उनको हेय जानता हुआ संसारिक सुख की इच्छा रहित आचरण करता है। गले में शिला बाँधकर कोई विस्तृत नदी के पार जाना चाहे तो अवश्य ही डूबेगा ऐसे ही कांक्षावान जीव संसार में भ्रमण करेगा।

इस प्रकार यह दर्शन विशुद्ध अन्तरात्मा पुरुष पराधीन दुःख से परिपूर्ण विनाशीक, पापों के कारणभूत विषय सुखों में आदरबुद्धि नहींकरनाचाहता। स्वाधीन शाश्वतरहने वाले आनन्द से ही परिपूर्ण और आनन्द का ही कारण अपने निज स्वरूप में ही आदरबुद्धि करता है चाहे उसे प्रयोजन वश बाह्य कार्य में अटकना पड़े पडना पड़े। तिस पर भी उसकीप्रीति इन्द्रिय सुख से निवृत्त होकर आत्मीय आनन्द में ज्ञानस्वरूप में रत रहने के लिये ही होती है।

यह ज्ञानी पुरूष जगत के बाह्य समागमों से निस्पृह है और निज स्वरूप की भावना में दत्तचित्त है ऐसे ही पुरूष उस तीर्थंकर रूप महान पुण्यप्रकृति का बंध करते हैं जिससे वे विश्व को धर्ममार्ग के बताने वाले प्रमुख नेता होते हैं किसी भी मार्ग का नेतृत्व केवल बातों से नहीं होता किन्तु पुरूषार्थ से होता है। भिक्षा मांगने से यह नेतृत्व नहीं मिलता है चाहे राष्ट्रीय नेतृत्व हो और चाहे सामाजिक नेतृत्व हो। और चाहे प्रभु जैसे धर्मको पाने का नेतृत्व हो उस जैसा परिणाम हो, उस जैसी भावना हो,

स्वच्छ हृदय हो, निष्काम कर्म योग हो, किसी प्रकार की अन्तर में इच्छा नहीं हो, प्रतिक्रिया की वान्छा नहीं हो ऐसाशुद्ध स्वच्छ हृदय वाला पुरूष ही धर्म तीर्थ का नेता बनता है।

निर्विचिकित्सा:–

तीर्थंकर प्रकृति का बंध करने वाला पुरूष निर्विचिकित्सा अंग का भी अधिकारी होता है अपने को उत्तम गुणों से युक्त समझकर व अपने को श्रेष्ठ मानकर दूसरे के प्रति अवज्ञा तिरस्कार व ग्लानि रूप भाव होना विकित्सा या ग्लानि है यह दोष मिथ्यात्व के उदय से होता है। इसके बाह्य चिन्ह इस प्रकार हैं- किसी दीन, दरिद्री, विकलांग,रोगी को देखकर निन्दा, ग्लानि तिरस्कार निरादर व उपहास आदि करना। सम्यग्दृष्टि जीव विचारता है कि कर्मोके उदय की विचित्रगति है। कदाचित पाप का उदय आ जाये तो क्षणमात्र में धनी से निर्धन, रूपवान से कुरूप, विद्वान से पागल, कुलवान से पतित और स्वस्थ्यता से रोगी हो जाते हैं। इससे वह दूसरों को हीन बुद्धिसे नहीं देखता और ऊपर से अपवित्र शरीर पर ध्यान न देकर अंतरंग गुणों को देख जुगुप्सारहित सेवा सहायता करता है। यह व्यवहार से निर्विचिकित्सा गुण है। सम्यग्दृष्टि पुरूप सर्व साधर्मी जनों को उच्च आदर्शदृष्टि से देखता है साधुओं का शरीर रत्नत्रय से पवित्र है चाहे शरीर से वे भले ही मलिन होवें परन्तु ज्ञानियों के ऐसे पुरूपों की सेवा की धुन रहती है उनकी उपासना का चाव रहता है जैसे माँ मल, मूत्र, लार, नाक गिराने वाले बच्चों से भी ग्लानि नहीं करती और सेवा में सावधान रहती है ऐसे ही ज्ञानी अन्तरात्मापुरूष धर्मी पुरूषों की सेवा में ग्लानि नहीं करते हैं। उसे अपना कर्त्तव्य समझते हैं, धर्मात्माजनों की सेवा हमारे घरका ही तो कार्य है वह हमको ही तो करना है हम

उससे क्यों चलित हों ऐसा अपने में मधुर बोध रहता है, निर्वि-चिकित्सा अंग के प्रति इस भूलोक में राजा ऊद्दायन अतिप्रसिद्ध है ऐसाव्याख्यानइन्द्रसभामेंसुनकर एकदेव के मनमेंऐसाआया कि हम जाकर परीक्षाकरें कि ऊद्दायनराजा किसप्रकार निर्विचिकि-त्सा अंग को पालता है, आया वह भू लोक में, बना लिया उसने साधु का भेष और चलाअहार के लिये। ऊद्दायन राजा ने जब देखा कि साधु महाराज आ रहे हैं तो बड़ी भक्ति से पड़गाहा, भोजन कराया। देव भोजन नहीं करते। पर वह विक्रिया से कैसी भी शक्ल और दृश्य बनालें। तो भोजन करने के बाद देव ने वहीं वमन कर दिया। सो वमन तो बड़ी दुर्गन्धित चीज होती है। परन्तु उसके बाद भी उद्दायन राजा और उनकी रानी दोनों बड़ी भक्ति से उनकी सेवा में लगे हैं ग्लानि नहीं करते हैं वे अपने ही कर्मों को दोष देते हैं कैसा मेरा उदय आया कि इन्हें यहाँ पर ऐसी तकलीफ हो गई। वे राजा और रानी अपनी विनय में धर्मबुद्धि में अन्तर नहीं डाल रहे हैं। कुछ ही समय बाद वहदेव वास्तविक देव रूपमें प्रकट होकर राजाऊद्दा-यन की स्तुति करने लगा।

परमात्मतत्व को भावना के बल से ज्ञानी जीव सब ही वस्तु के धर्मों के प्रति ग्लानि नहीं करते। ज्ञानी को अपने आप में स्पष्ट झलक प्राप्त हुई है उसके लिये ग्लानि को बसाने वाला विभाव नहीं रहा वह सब जीवों को एक चैतन्य स्वरूपमय तकता है ऐसी अन्तर में उसकी पैनी दृष्टि हो गई है। वह जानता है कि जितने पदार्थ हैं वे मात्र अपनी परिणति से परि-णमते हैं ऐसी स्वतंत्रता है परन्तु चूंकि कोई सा भी विभाव परनिमित्त के अभाव में नहीं उत्पन्न हो सकता, इस कारण सर्व विकारभाव परभाव कहलाते हैं इनमें रुचि मत करो और इनसे अपने को ग्लान मत बनाओ।

अपने आपकी प्रभुता के स्वरूप से प्रतिकूल रहना यह सबसे बड़ा दोष है। यही परमार्थ से जुगुप्सा है। धर्मस्वरूपमय, निजपरमात्मतत्व से ग्लानि करना, मुख मोड़ रहना यह महान अपराध है। सम्यग्दृष्टि पुरुष अपने आपके स्वभाव से विमुख नहीं होता अपने स्वरूप से जुगुप्सा नहीं रखता किन्तु रुचि रखता है इस धर्ममय आत्मप्रभु की सेवा में रह कर कोई कष्ट भी भोगना पड़े उपद्रव उपसर्ग भी सहना पड़े तो भी उन में विषाद नहीं मानता, अपने परिणामों को ग्लान नहीं करता। यही है परमार्थ से निर्विचिकित्सा अंग।

और यदि लोक में सारी अपवित्र चीजों के कारण को विचारा जाये तो अंत में मिलेगा सबसे अधिक अपवित्र यह मोह रागद्वेष भाव ही अस्तु ये रागादिभाव ही विचिकित्सा योग्य हैं अन्य कोई नहीं।

इस प्रकार जो पुरुष धर्मात्माओं में, अपनी वेदनाओं में और बाहरी अपवित्र चीजों में ग्लानि नहीं करते किन्तु यथार्थ तत्व के वेत्ता रहते हैं ऐसे जीवों की विश्व के जीवों पर उनके उद्धार की जब दृष्टि पहुँचती है, परम करूणा होती है तो वह तीर्थंकर प्रकृति का बंध करता है।

अमूढ दृष्टि:—

देव गुरू, शास्त्र, लौकिक प्रवृत्ति, अन्य मतादिक के तत्-वार्थ के स्वरूप इत्यादि में मूढ़ता न रखना, यथार्थ जानकर प्रवृत्ति करना सो अमूढ दृष्टि है अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्-यात्व के प्रभाव से रागीद्वेषी देवों की पूजन करना, यज्ञ, होमा-दिक तथा खोटे मंत्र तंत्र आदि कर्म करते हैं, उनके करने वालों की प्रसंशा करते हैं पंचाग्नि तपने वाले कन्दमूलादिक भक्षण करने वाले तथा भस्म लगाने वाले कुलिंगियों की मान्यता, प्रसं-

शा पूजा करते हैं, तथा यक्ष, क्षेत्रपाल पद्मावती, चक्रेश्वरी आदि को पूजना, देवताओं को अन्न चढ़ाना लौकिक कार्य की सिद्धि के लिये सो सब मूढ़ताहै औरजिसके देव कुदेवका,धर्म कुधर्मका,गुरू कुगुरू का तथा पाप पुण्य का तथा भक्ष्य अभक्ष्य का त्याज्य अत्याज्य का आराध्य अनाराध्य का कार्य अकार्य का, दान कुदान का, शास्त्र कुशास्त्र का, पात्र अपात्र का, ग्रहण करने योग्य,नहीं ग्रहण करने योग्य का अनेकान्त रूप सर्वज्ञ वीतराग के परमागम से अच्छी तरह जान निर्णयकर मूढ़ता रहित होना व पक्षपात छोड़ करके व्यवहार परमार्थ में विरोध रहित होय प्रवृत्ति करना सो व्यवहार से अमूढदृष्टि अंग है।

और निश्चय से जो अपने आत्म स्वरूप में मूढ न हो, स्वरूप को यथार्थ जाने, समीचीन दृष्टि रखे सो अमूढदृष्टि अंग है। ज्ञानी जीव आत्मा का जो सहज स्वरूप है ऐसे अनादि अनन्त ध्रुव ज्ञायक स्वभाव को ही अपनाता है शेष सभी परभावों को अपने से भिन्न दृष्टि में लेता है यह अमूढदृष्टि है।
अज्ञानी जीव शरीर, कषाय, रागादि को अपना मानकर मूढ बना रहता है जबकि सम्यग्दृष्टि जीव सभी भावों में असम्मूढ है। सर्व पदार्थों का यथार्थ स्वरूप जानता है वह। अपनेध्रुव परिणामिक ज्ञान स्वरूप से भिन्न किसी भी परपदार्थ में वह मुग्ध नहीं होता। यही कारण है कि कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र, कुधर्म में कुछ चमत्कारभी दिखे तोवह उनमें व्यामोह नहीं करता है। पुराणों में रेवती नामक रानीका दृष्टान्त दिया है न। उसके सामने नाना चमत्कार दिखाये, देवी देवताओं का आडम्बर दिखाया, ऋद्धि सिद्धि दिखाई पर रेवतीरानीका चित्त न डिगा। अंत में एक तीर्थंकर जैसी मायामय समोसरण आदि भक्ति रचना भी दिखाई लोगों ने कहा कि अब तो तीर्थंकर महाराज आये हैं अब तो वंदना को चलना चाहिये परन्तु उस रेवतीरानी

का दृढ़ श्रद्धान था कि ये २५ वें तीर्थंकर कहाँ से आ गये वह अपने सत्य श्रद्धान से चलित नहीं हुई तो इसे कहते हैं अमूढदृष्टित्व।

अमूढदृष्टि अंग में जैसा वस्तु का यथार्थ स्वरूप है वैसा यथार्थ भान किया जाता है। अयथार्थ को यथार्थ मानना मूढता है इसी प्रकार यथार्थ को अयथार्थ मानना मूढता है। ज्ञानी जीव अपने श्रद्धान में सभी चीजों को यथार्थ बनाये हुये है। इस सम्यग्दृष्टि के निज भूमिका में उत्पन्न होने वाले परभावों में भी मोह नहीं जगता। चारित्र मोह के उदय से इष्ट अनिष्ट भाव उत्पन्न होते हैं उनको उदय की बलवत्ता जानकर उनभावों का कर्त्ता वह नहीं होता। उसे तो लोक में सबसे बड़ा वैभव अपने शुद्ध ज्ञान स्वभाव की दृष्टि ही है। जितने भी जैन सिद्धान्त के उपदेश हैं उनका मात्र प्रयोजन शुद्ध ज्ञान स्वभाव की दृष्टि कराना है तुम तो चैतन्य स्वरूप मात्र हो, निश्चयनय से अपने आपको ही करते हो, अपने आपको ही भोगते हो तुम्हारा तुम्हारे से अतिरिक्त अन्य किसी परपदार्थ में रंच भी सम्बन्ध नहीं है तुम्हारा चतुष्टय तुम में ही है अन्य वस्तुओं का चतुष्टय उन अन्य में ही है ऐसा दिखाकर अपने एकत्व स्वरूप में यह जीव उपयुक्त हो और शुद्ध ज्ञायक स्वरूप का अनुभवकर सुख शान्ति का अधिकारी बने वह ही अपने स्वरूप का यथार्थ ज्ञाता है व स्वरूप में अमूढ है। आत्मन्! तू अपने स्वरूपमें कभी भी भ्रान्ति को प्राप्त नहो और ऐसी भावना भावोकि सभी जीव इस आत्म-भ्रान्ति से निकल कर कल्याण के अधिकारी बनें।

उपगूहन—उपबृंहणः—

पवित्र जैन मार्ग की अज्ञानी तथा असमर्थजनों के द्वारा की गई निन्दा को यथायोग्य रीति से दूर करना तथा अपने गुण

और पराये दोषों को ढकना सो उपगूहन अंग है। धर्मात्मा में कर्मोदय से दोष आ जाये तो उसे गौण करना और व्यवहार मोक्ष मार्ग की प्रवृति को वढाना सो उपगूहन अथवा उपवृंहण है। ज्ञानी जानता है कि धर्मात्मा की निन्दा से धर्म की निन्दा होती है। सम्यग्दृष्टि दूसरे की निन्दा और अपनी प्रशंसा नहीं करता। जनकृत दोषों को देखकर आप संक्लेश नहीं करता इस निकट भव्य में इतनी गम्भीरता है कि उसकी प्रवृत्ति में, वचन-वृत्ति में कोई कार्य ऐसा नहीं होता जिससे दूसरों का अहित हो किसी अज्ञानी द्वारा, अशक्त द्वारा, वालक द्वारा कोई धर्म की अप्रभावना का भी कार्य हो जाये तो उसे वह गुप्त रखता है गुप्त रखने का मतलव सीधा ढाकने से नहीं किन्तु उसके दोष से धर्म में दोष न जाहिर हो जाये ऐसा यत्न करना है। दोष ढाकने का उद्देश्य यह है कि लोगोंके चित्त में धर्मके प्रति श्रद्धा रहे। यह धर्म उज्जवल है सत्य है हितकारी है अत: छोटा दोष जो दूर किया जा सकता है उसकी प्रसिद्धि करने से लोकमें कितनेक जीवों का अनर्थ हो जाने की सम्भावना रहती है, जो धर्म की ओर झुकना भी चाहते थे वे यह जानकर किधर्म तो पूरा ढकोसला है उससे अश्रद्धालु हो जाते हैं। हाँ कोई कोई स्वच्छन्द और उद्‌दण्ड पुरूष प्रगट रूप से धर्म में दोष हो लगावे तो ऐसे व्यक्ति को स्पष्ट जाहिर करदो यह हमारा साधु नहीं इससे भी धर्म की रक्षा होती है यह प्रक्रिया भी उपगूहन में पड़ी हुई है। जैन सिद्धान्त में तो गुणों की पूजा है रत्नत्रय रूप से प्रेम होने के कारण उसकी निन्दा ज्ञानी पुरूष नहीं करता ताकि धर्म में लाँछन न लगे। इस प्रकार जनता के उपयोग के मैदान से अज्ञानकृत दोषों को दूर किये रहना सो व्यवहार से उपगूहन अंग है।

और निश्चय दृष्टि से तो जीव में उत्पन्न होनेवाले जो मिथ्यात्व रागादिक दोष हैं विभाव रूप धर्म हैं उन धर्मों का

प्रच्छादन करना,हटाना सो उपगूहन अंग है । इस अंग का दूसरा नाम उपबृंहक भी है यानि जो आत्माको शुद्ध स्वरूप में युक्तकरे, आत्मा की शक्ति बढ़ाये । सम्यग्दृष्टि टंकोत्कीर्णवत् निश्चलएक ज्ञायक स्वभावमय है इस कारण समस्त आत्मशक्तियों का बर्द्धनशील होने से उपबृंहक है उसमें अपनी आत्मशक्ति को दुर्बलता नहीं है साहस है अपने आपको प्रगति में ले जाने वाला है ।

सम्यग्दृष्टि जीव संसार की स्थिति को यथार्थत:समझता है अत: वह संक्लेश आदि भावों को हटाकर अपने मनकी प्रगति में शान्ति बढ़ाता है और धर्मात्मा जनों के दोषों को जनता में प्रगट नहीं करता ।

उपगूहन अंग में जिनेन्द्र भक्त सेठ प्रसिद्ध हुये हैं- सेठ जिनेन्द्रभक्त के महल में एक विशाल चैत्यालय बनाहुआ था वहाँ किसी चालाक आदमी ने देख लिया कि चैत्यालय में एक मणि-जड़ित छत्र है सो सोचा कि इसको चुराया कैसे जाये । सोचते-२ एक युक्ति आयी कि ब्रह्मचारी या क्षुल्लक बन जायें, कुछ दिनों तक यहां रहें जब इनको विश्वास हो जाये तो किसी समय अवसर मिल सकता है कि इसको चुरा ले जायें । सो वह बन गया क्षुल्लक । मन्दिर में रहने लगा । बहुत दिनों के बाद जब जिनेन्द्रभक्त को कहीं बाहर जाना था सो सब काम काज चाबी क्षुल्लक जी के सुपुर्द कर दिया और चल दिया । इसने यह देखा कि अब अवसर है, उसे तो वह कीमती क्षत्र चुराना था, उसे चुराया और रात्रि को वहां से चल दिया । वहतो जा रहा था, उस चमकते हुये क्षत्र को देखकर कोतवाल ने पीछा किया और उसे पकड़ भी लिया । इतने में सामने से जिनेन्द्रभक्त भी आ रहे थे । जब मामला उन्होंने जाना तो, वो जिनेन्द्रभक्त कहता है कि यह तो हमीं ने बुलाया था । यद्यपि बात ऐसी नहीं है

किन्तु आशय तो देखो कि जिसमें बात ऐसी बसी है कि धर्म में लांछन न लगे। कोई लोग यह न जानें कि जिन धर्म के धारण करने वाले पुरूष ऐसे हुआ करते हैं। केवल धर्म के लांछन को उपगूहित करने के लिये उन्होंने यह किया उसके आशय में कहीं उस व्यक्ति से अनुराग न था कि उसे बचाना है केवल लोक में धर्म को लाँछन न लगे, लोगों की दृष्टि में धर्म मलिन न समझा जाये ऐसे पवित्र आशय को उपगूहन अंग कहते हैं।

स्थितिकरण:—

कर्म के उदयवश किसी कारण से स्वयं को या पर को धर्म से शिथिल होते हुये देखे तो उस समय जिस तरह बने उस तरह धर्म में दृढ तथा स्थिर करना स्थितिकरण है। सम्यग्दृष्टि को उचित है कि चित्त चलायमान होने वाले को धर्मोपदेश देकर दृढ करे। निर्धन को धन, आजीविका देकर, रोगी को औषध देकर, भयवान को निर्भय कर धर्म में लगाय। जिस तरह से भी हो व्यवहार मोक्षमार्ग में च्युत होते हुये आतमा को मोक्षमार्ग में लगाने रूप यत्न को स्थितिकरण कहते हैं। अपना आत्मा भी स्वरूप से च्युत हो कुमार्ग में जाने लगे तो अपने आपको भी पुन: स्वरूप में स्थापित करे, उसके स्थितिकरण अंग होता है।

कोई सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्र के मार्ग से विचलित होने लगे, छोड़नेलगे, उन्मार्गका श्रद्धान ज्ञानआचरणकरनेलगेतो ज्ञानीपुरुष ऐसी प्रवृत्ति करता है कि वह धर्मात्मा पुन: अपने स्वरूप में स्थित हो जाये। स्वयंकी या परकी आत्मा ऐसी उन्मार्गकी ओर बढे तो ज्ञानी समझता है कि यह उन्मार्ग खोटा मार्ग, विषय कषायों का मार्ग, कुदेव, कुशास्त्र, कुधर्म के प्रति इस जीव को भव-२ में क्लेश का कारण है। मैं इन विषय कषयों से दूर हटूं और अपने आप की ओर अभिमुख होने लगूं ऐसे अपने आप में अनेक विवेकपूर्ण यत्न करके आत्म स्वभाव की दृष्टि का बल

बढ़ाकर उन विषयकषायों से अपने को अलग रखने का यत्न करना चाहिये। इस आत्मा को इस आत्मा के स्वभाव के ज्ञान-विकास में लगाना और ज्ञाताद्रष्टा रहने की स्थिति बनाये रहना यही परमार्थ स्थितिकरण है और व्यवहार में ऐसे साधन बना देना कि वह अपनी बुद्धि कोठीक रखे धर्म में स्थिर गति करे सो व्यवहार स्थितिकरण अंग है।

स्थितिकरण अंग में वारिषेण मुनि प्रसिद्ध हुये हैं। वारिषेण मुनि को आहार कराने के बाद उनके मित्र पुष्पडाल बहुत दूर तक पहुँचाने गये। उन्होंने कितना ही चाहा कि ये मुनिराज मुझे पीछे लौट जाने को कहें किन्तु उनको तो मित्र के उद्धार का भाव था, तो पीछे लौट जाने को नहीं कहा तब पुष्पडाल का भी कुछ चित्त बदला और मुनि हो गये। मुनि तो हो गये पर उनको स्त्री का ख्याल सताने लगा। यद्यपि वह स्त्री कानी थी, कोई प्रियवादिनी भी न थी किन्तु मोह तो है तब वारिषेण ने उनके अस्थिर चित्तपना को कैसे मिटाया कि स्वयं उन्होंनेमां को खबरभेजी कि आजहम आयेंगे औरसब रानियोंको शृंगार करके तैयार रखना। माँ ने पहिले तो विकल्प किया कि ऐसी कुबुद्धि क्यों आयी फिर सोचा कि होगा कोई रहस्य। खैर वे दोनों आये। उस समय पुष्पडाल इस वैभव को देखकर बड़े विरक्त हुये और उनका शल्य छूट गया। सोचा कि ये वारिषेणतो इतने विशाल वैभव को छोड़कर साधु हुये हैं हमें एकही स्त्रीका शल्य क्यों हो? यह है स्थितिकरण।

जिसके पास जो सामर्थ्य है उसके बल से कुपथ में गिरने के उन्मुख हुये पुरूषों को धर्मात्मापुरूष स्थिर करते हैं। उपदेश से समझा बुझाकर उसे उत्तरोत्तर दुर्लभ समागमकी बात बतावे जिसका मिलना फिर दुर्लभ है अतः विषयकषायों के पीछे अपना भाव बिगाड़ना ठीक नहीं, नहीं तो नरक निगोदादि में तो और

अधिक दुःख भोगना पड़ेगा। धीरता से रोग वेदना को भोगो। व्रत सेवन कर आत्मा का उद्धार करो, औषधि भोजन पथ्यादिक कर उपचार करे, १२ भावना का स्मरण करावे। शरीर कीटहल करके जिससे उसे शान्ति हो, ऐसा करे। अपनी आत्मा भी नीति से धर्म से क्रोधादिक के वश होकर के अन्याय करने लग जाये तो उसका भी स्थापन करे। ऐसा स्थितिकरण का भाव रहने पर इस जीव के ज्ञानदृष्टि जगती है। और जो केवल दो चार मोही जीवों पर ही दृष्टि रखता है, उन्हें ही आर्थिक व अन्य परिस्थितियों से मजबूत करना चाहे और करे तो इससे उसको ज्ञान मार्ग नहीं मिलता वह तो बड़ा अधेरा है। और जिससे मेरा सम्बन्ध नहीं है जो परिवार जन नहीं हैं, जिनके संग से विषय साधना की कुछ सहायता नहीं मिलती है ऐसे विरक्त ज्ञानी संतो की उपासना और वे कदाचित चलित हों तो उनको धर्ममार्ग में स्थिर करना इस उपाय से ज्ञान की दृष्टि में बल मिलता है। इस कारण यह स्थितिकरण अंग सम्यग्दृष्टि पुरूष का एक प्रधान कर्तव्य है। ज्ञानी पुरूष विपदाओं से घबड़ाता नहीं मैं किसी भी परिस्थिति में धर्म से विचलित न होऊं। मैं धर्म को ऐसा पकड़कर रह जाऊं कि मेरे लिये एक धर्म ही सर्व-स्व है तो इस जीव का कल्याण होता है ऐसी स्थितिकरण की पात्रता जिसके सहज चलती है ऐसा योग्य पुरूष विश्व के परम उपकार की भावना के बल से तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया करता है।

वात्सल्यः—

धर्म और धर्मात्मा में अतः करण से अनुराग करना, भक्ति तथा सेवा करना, इन पर किसी प्रकार का उपसर्ग या संकट आने पर अपनी शक्ति प्रमाण उसके हटाने का प्रयत्न

करना और निष्कपट गौवत्ससम प्रीति करना सम्यग्दृष्टि का वात्सल्य अंग है जिसे छः ढाला में कहा है ",धर्मी सौं गौ वच्छ प्रीतिसम" । व्यवहार मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति करने वाले पर विशेष अनुराग होना सो वात्सल्य है । जो जिस गोष्ठी का नेता है वह उस गोष्ठी से परम वात्सल्य भाव रखता है अथवा जो जिस गोष्ठी में परम वात्सल्य रखता है वह उस ही गोष्ठी का नेता स्वयमेव हो जाता है । इस संसार की समस्त जनता की गोष्ठी में अथवा विश्व के प्राणियों के समूह में जिसका यथार्थ वात्सल्य भाव है जिसका प्रेम है वह पुरुष तीन लोक का अधिपत्ति हो जाये धर्म तीर्थ का नेता हो जाये तो यह तो न्याय की ही बात है । वात्सल्य भाव तो सभी को विदित है फर्क इतना है कि वह निश्छल है या छल सहित है इतना ही देखना है कोई पुरुष स्त्री से वात्सल्य करता है, कोई पुत्र से कोई धनवैभव सम्पदा से, वह वात्सल्य किस लग्नता से है, स्वार्थ सहित है या क्या आशय से ? देखने पर पता पड़ेगा कि वह किन्हीं संसारिक प्रयोजनों को लेकर ही है, परन्तु धर्मात्मा पुरुष का वात्सल्य धर्मात्मा पुरुषों में निश्छल गऊ वत्स की तरह है । देखो न गाय को बछड़े से कौन सी आशा है कोई भी आशा उस गाय को नहीं है कि बुढापे में ये खिलायेगा मुझे , मेरी सेवा करेगा परन्तु फिर भी अपनी ओर से निश्छल प्रेम पहुचता है गाय का बछड़े पर । ऐसा ही निश्छल प्रेम ज्ञानी पुरुषका धर्मात्मा जनों पर होता है । हमें अपने जीवन को पढना चाहिये कि जैसे पुत्रों की याद करके हृदय भर जाता है ऐसे हो पड़ोसी साधर्मी जनों की याद करके भी हृदय द्रवीभूत होता है क्या ? अरे वात्सल्य न करें तो ईर्ष्या , मात्सर्य, अदेखसका, अथवा किसी को बढते हुये निरख कर

उसकी उन्नति की जड़ काटने का उपाय बनाना ऐसी तुच्छ बातें तो न करे, अरे धर्मात्माजनों के मिलने पर महानिधि का लाभ मानना उनके गुणगान करना विनय करना, वैयावृत्य कर आहारादिदेकर आनन्द मानना सो वात्सल्य अंग है ।

उत्तमक्षमादि १० धर्मों में रत्नत्रय धर्म में और उनके धारकों में अनुराग तथा मैत्री प्रमोद, कारूण्य और माध्यस्थ भावना भाना सोसब वात्सल्य है ।

देखो पक्षियों का पक्षियों में ही प्रेम होता कौवा कौवों में ही बैठना पसन्द करते हैं जिस जाति की चिड़िया हो वह अपनी गोष्ठी में ही रहना पसन्द करती है । यों ही धर्मात्मा का धर्मी पुरूष से वात्सल्य होना स्वभाविक ही है । यह तो व्यवहार से वात्सल्य अंग की बात कही । परन्तु निश्चय से सम्यग्दृष्टि जीव का वात्सल्य अपने स्वरूप के प्रति होता है वह अपने चैतन्य स्वरूप के प्रति विशेष अनुरागी होता है । वह जानता है कि जैसे व्यवहार में रत्नत्रय को सीखने वाले आचार्य उपाध्याय और साधु परमेष्ठी हैं उसी प्रकार आत्मा के कल्याण को जो साधे ऐसा रत्नत्रय रूप धर्म है निश्चय से सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यकचारित्र रूप परिणमन ही मेरे कल्याण का साधक है । सो मोक्ष मार्ग में लग रहे हुये रत्नत्रय रूप अपने पवित्र परिणामों से जो वात्सल्य करते हैं प्रेम करते हैं उनकी साधना बनाते हैं वे सम्यग्दृष्टि वात्सल्य भाव से युक्त होते हैं ।

इस अंग के पालने में प्रसिद्ध विष्णुकुमार मुनि हुये हैं । कैसा था उनका वात्सल्य कि अंकपनाचार्यआदिक साधु संघ पर जब बलि आदि मंत्रियों ने घोर उपसर्ग किया था वह दिन था श्रावण सुदी चौदश का । उपसर्ग ऐसा किया कि वे मुनि महाराज तो अपने ध्यान में लीन बैठे थे और उन मंत्रियों ने

उन्हें एक वाड़ी से घेर दिया उनके चारों ओर कूड़ा करकट, अनेक दुर्गन्ध देने वाली चीजें चारों ओर से लगा दीं जिनमें आग जल्दी लग जाये। और आग लगा दी। देखो तो इतना भयानक मुनियों पर उपसर्ग करने का मूल कारण अपमान की ठेस थी। पूर्व समय में उन मुनियों में से एक मुनिराज के द्वारा उन वलि आदिक को शास्त्रार्थ में हारना पड़ा था। उसकी इतनी चोट थी कि उन्होंने अपना वदला चुकाने का निश्चय कर लिया था किसी पुरुप को अपमानित कर देना श्रेय के लिये नहीं होता। यद्यपि वहां उन श्रुत सागर मुनि ने उन्हें अपमानित करने की दृष्टि से शास्त्रार्थ में नहीं जीता किन्तु एक धर्म को अक्षुण्य वनाने के लिये कि राजा यह न कह सके कि जैन सिद्धान्त में कुछ तत्व नहीं है इस दृष्टि से शास्त्रार्थ किया था पर हुआ क्या सा वहुत खतरनाक परिणाम हुआ।

क्या कोई जनता का आदमी ऐसा उपद्रव देखकर सह सकता है। पर विवश थी जनता। वलि के हाथ में राज्य था घोर उपसर्ग किया और इतना ही नहीं किन्तु इस खुशी में धर्म का ढोंग वनाकर एक अलग यज्ञ रचकर याचकों को किमिच्छक दान देने लगा। आओ व्राह्मणों जो चाहो दान ले जावो। उसका ७ दिन का तो राज्य था सारा धन विगड़ जाये तो उसका क्या विगड़ा? ऐसी परिस्थिति में विश्णुकुमार मुनि ने अपनी तपस्या में कमी करके उन मुनियों का दुःख दूर किया था। धर्म का जव अनुराग जगता है तव रहा नही जाता। दूसरों का उपद्रव टालना ही चाहिये।

विचारिये! आप जव सामायिक में वैठें हों, जाप दे रहे हों और आपने यह देखा कि इस दिवाल पर कीड़ा वैठा है और यह छिपकली इस कीड़े को खाना चाहती है तो प्रकृत्या आपका

ऐसा यत्न होगा कि पहिले तो वहीं बैठे-२ छू-छू करके हाथ हिलायेंगे। जाप सामायिक तो आप कर रहे हैं पर यह दृश्य सामने आता है कि अमुक जीव बैठा है और यह छिपकली उसे खाना चाहती है तो अपने ही दिल से बतलाओ कि आप उस जाप की गुरिया फेरते हुये या मंत्र जपते हुये आराम से बैठे रह सकते हैं क्या? नहीं। दया का ऐसा अनुराग जगता है कि आप बैठे नहीं रह सकते हैं। यहां कोई प्रश्न करे कि क्या सामायिक की प्रतिज्ञा लेकर अथवा जाप में बैठकर यह क्रिया करनी चाहिये? वहाँ तो मन वचन काय की क्रियायों को बंदही करना चाहिये। हाँ भाई उस जाप देने वाले को इसका पता है और ऐसा करते हुये में अन्दर से वह खेद ही मानता है और यत्न भी करता है कि मैं छू-छू करूं या थप्पड़ी बजाऊं, या थोड़ा, झुककर उसमें कुछ घबड़ाहट पैदा करदूं ताकि वह कीड़ा बच जाये। ऐसा यत्न करते हुये वह अपने आप में ऐसा विषाद भी कर रहा है और यह अनुराग का कार्य भी कर रहा है अपना ही प्रेक्टिकल करके देखलो।

तो विष्णुकुमार मुनिराज जिनको विक्रिया ऋद्धि सिद्ध हुई थी जब उन्हें यह समाचार विदित हुआ कि अहो मुनिसंघ पर इतना उपसर्ग हो रहा है तो उनके यह इच्छा हुई कि यह उपसर्ग दूर किया जाये। किन्तु उन्हें अपनी ही ऋद्धि का पता न था- लेकिन जब क्षुल्लक जी ने बताया कि आपको विक्रिया ऋद्धि सिद्ध हुई है तब उन्होंने अपना हाथ बढ़ाया तो बढ़ता ही चला गया। जान लिया कि विक्रिया ऋद्धि हुई है तो फिरउनने उपसर्ग को दूर करने की ठान ली।

वे झट गये, जहाँ बलि यज्ञ का ढोंग रच रहा था एक वामन स्वरूप रखकर। वहाँ किमिच्छक दान देने वाले बलि के आगे मंत्र और बड़ी ध्वनि से यज्ञ की बातें भी करलीं। उस समय सन्तुष्ट होकर बली कहता है कि जो तुम्हें मांगना हो माँ-

गलो। एक तो अन्याय कर रहा है बलि और पिछला बदला चुकाने के आशय से खुश हो रहा है। और दूसरे का धन है सो खूब लुटा रहा है। ऐसी हालत में सन्तुष्ट होकर बलि यों कहता कि लेलो जो तुम चाहते हो विष्णु जी बोले मुझे तो केवल ३ पैड जमीन चाहिये। बलि बोला कि तीन पैड में क्या होता है और कोई महल मांगो सोना चांदी मांगो विष्णुकुमार बोले हमें तो तीन पैड जमीन ही चाहिये। इसका उन्होंने संकल्प किया। कहा अच्छा लेलो। विष्णुकुमार ने एक टांग को तो मध्य में सुमेरु पर रखा और दूसरा पैर चारों ओर घुमाकर मानुषोत्तर पर्वत पर। सारा मनुष्य लोक घेर लिया। विष्णु ने कहा कि अब तीसरा पैड दो। इतना ही देखकर राजा बलि भय से कांप गया और कहने लगा कि महाराज अब मेरे पास और जमीन कहां है। उस समय का दृश्य कई दृष्टियों से बड़ा रंजक था। अंत में बलि से विष्णु ने कहा कि इन सब मुनियों का उपसर्ग इसी समय दूर करो उपसर्ग को बलि ने दूर कर दिया। तो देखो विष्णुकुमार मुनिराज ने अपनी साधना में शिथिलता भी करके अनेक मुनियों के प्राण बचाये। देखो- मुनियों का सबसे उत्तम वैभव है आत्म स्वरूप की मग्नता, सहज आनन्द का अनुभव। समय आने पर विष्णुकुमार मुनि ने उस स्वानुभव के वैभव का भी अनुराग कम करके अकम्पनाचार्यादिक ७०० मुनियों की रक्षा की। इससे अधिक वात्सल्य और क्या होगा। साधु सन्तों का उत्कृष्ट वैभव है स्वानुभव। अथवा ये कहो कि जैसे कोई गृहस्थ अपनी सारी सम्पत्ति लुटाकर भी दूसरों की रक्षा करे इस मुकाबले का काम था विष्णुकुमार मुनिराज का। जिसको धर्म में प्रीति होती है उसको धर्मात्माओं में प्रीति अवश्य होती है, अरे धर्म कोई अलग से थोड़े ही है जो धर्मात्माजन हैं वही तो धर्म है धर्मात्मासेप्रथकधर्मकीकोईअलगसे काया नहीं है। तो विष्णुकुमार ने उन पर वात्सल्य भाव प्रदर्शित किया। धर्मा-

त्माओं पर वात्सल्य भाव करके सन्मार्ग में प्रगतिशील बनना चाहिये। मोहियों से प्रीति रखने में दुःख और अज्ञान की वृद्धि होती है। ज्ञान स्वभाव का स्मरण कराने वाली धर्मात्माओं के प्रति वात्सल्यवृति है यही सगुन है। साधु सम्यग्दृष्टि अपने को रत्नत्रय स्वरूप देखता है तथा रत्नत्रयधारियों से अनुराग रखता है यही वात्सल्य अंग है। ये संसार के भव्य जीव भी अपने स्वरूप से वात्सल्य करें ऐसी करूणा से यह दर्शनविशुद्ध पुरुष तीर्थकर प्रकृति का बंध कर लेता है।

मार्ग प्रभावना:-

अज्ञान अन्धकार को दूर कर जिनेन्द्र के शासन का माहात्म्य प्रकाशित करना प्रभावना अंग है। मैं कौन हूँ मुझे क्या करने योग्य है आदि का ज्ञान करना और कराना दान तपव्रत और नियमों का पालन कर जैन शापन का प्रकाश करना सो प्रभावना अंग है। रत्नत्रय से आत्मा को प्रभावित करना व पूजा प्रभावना आदि कार्यों से प्रकाश करना सो सब प्रभावना है व्यवहार मोक्षमार्ग का अनेक उपायों से उद्योत करना यह व्यवहार प्रभावना है उत्सवों द्वारा सभाओं द्वारा पाठशालायें खुलवाकर ज्ञान दान देकर जैन शासन की प्रगति करने की वृत्ति ज्ञानी पुरूष में होती है।

जो जीव विद्यारथ पर आरूढ होता है वही मनुष्य जिन ज्ञान का प्रभावक हो सकता है। सब विद्यायों मे उत्तम विद्या है निज शुद्ध आतमतत्व की उपलब्धि। इसी विद्या पर आरूढ होता हुआ जो पुरूष अपने मन के वेगों को दूर करता है वही पुरूष जिन ज्ञान का प्रभावक सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये।

वस्तु स्वरूप का यथार्थ निर्मल परिज्ञान होना और उसके अनुकूल भावना बनाकर निजशुद्ध ज्ञान स्वभाव में सन्मुख होना यही है प्रभावना ज्ञानी जीव अपने को चूंकि एक ज्ञायक स्वरूप निश्चल मानता है इसलिये समस्त शक्तियों को

वह जगा देता है अपनी आत्मशक्तियों का विकास एक ज्ञान स्वभावी आत्मतत्व को दृष्टि में लेने से स्वयमेव हो जाता है। धर्म के लिये हम बाह्य पदार्थों पर दृष्टि दे देकर धर्म का संचय करना चाहें तो यह न हो सकेगा किन्तु धर्ममूर्ति एक निज शुद्ध ज्ञान स्वभाव की दृष्टि करें और तन्मात्र अपना विश्वास बनायें तो इस शुद्ध आत्मतत्व की भावना के प्रताप से परमार्थ धर्म प्रभावना भी है और उसकी जो भी मन वचन काय की चेष्टायें होगी वे भी इस प्रभावना धर्म के अनुकूल होंगीं।

इस परमपावन शुद्ध आर्हत शासन की प्रभावना प्रत्येक व्यक्ति कर सकता है धनी हो, निर्धन हो, बहुत पढा लिखा हो या कम पढा लिखा हो केवल धर्म की प्रीति समान चाहिये। वचन तो सभी के पास हैं उसमें धनी निर्धन का प्रश्न ही नहीं हैं सत्य वचन हो, हितमितप्रिय वचन हों, सबके हृदय को सन्तुष्ट करने वाले और क्लेशों को दूर करने वाले वचन बोले जायें यदि ऐसी हितकारी प्रवृत्ति हो तो यह भी प्रभावना का अंग है।

पहिले जैनदर्शन के अनुयायियों की इतनी गहरी छाप थी कि न्यायालयों में कोई जैन गवाह हो तो गवाह होते ही न्याय कर दिया जाता था। लोगों को ऐसा विश्वास बना हुआ था कि जैन है झूठ नहीं बोलता। और आखिर जो क्रोध मान माया लोभ, रागद्वेप मोह इन विभावों को जीत ले सो ही तो जिन है ओर ऐसे जिन को मानने वाले ही तो जैनधर्मी है। कोई कहने से जैन नहीं होता किन्तु जो शुद्ध ज्ञान और वैराग्य की दशा है उस तत्व को अपने उपयोग में उतारे और प्रयोग में लावे वही जैन है।

सदाचरण से ही धर्म की ठोस प्रभावना होती है। दान देने वालों से भी अधिक प्रभावना आचरण पवित्र रखने वालों से होती है हिंसा, झूठ, चोरी, कुशोल परिग्रह पापों से दूर रहें।

और फिर धर्म प्रभावना किसी परके लिये नही की जाती, खुद का धर्म खुद में है। मुख्य बात तो यही है कि अपने लिये अपने धर्म की प्रभावना करें। सम्यग्दृष्टि जीव जिस प्रकार अपना, तथा कुल का तथा धर्म का तथा साधर्मिन का, तथा दान, शील तप व्रत का अपवाद नहीं होय इस तरह से अपना प्रवर्तन करता है। अपने मन से, वचन से, शरीर से, धन से दान द्वारा, व्रत द्वारा, तपस्या से, भक्ति से रत्नत्रय रूप को हर कोई प्रगट कर सकता है यही है मार्ग प्रभावना।

ऐसी उपरोक्त आठ अंगों रूप जिसकी वृत्ति होती है ऐसा सम्यग्दृष्टि पुरूष विश्व के वात्सल्य से अनुराग से उनके प्रति उद्धार की भावना से तीर्थंकर प्रकृति का वंध कर लेता है। इस प्रकार सम्यक्त्व के आठ अंग धारण करने से इन गुणों के प्रतिपक्षी शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, मूढदृष्टि, अनुपगूहन, अ-स्थितिकरण, अवात्सल्य और अप्रभावना नामक ८ दोषों का अ-भाव होता है।

इस प्रकार दर्शनविशुद्धि भावना में सम्यकत्व के ८ अंगों की चर्चा हुई। सम्यकत्व निर्दोष और पूर्ण होना चाहिये। इसी सिलसिले में उस सम्यग्दृष्टि के ८ मदों का अभाव होता है अब उन ८ मद के सम्बन्ध में बात चलेगी।

सम्यग्दृष्टि जीव के ज्ञान का मद, पूजा का मद, कुल का मद, जाति का मद, बल का मद, ऋद्धि का मद, तप का मद, शरीर का मद ये ८ प्रकार के मद के भाव नहीं होते। ये मद के परिणाम सम्यकत्व को नष्ट करने वाले हैं ज्ञानी के सत्-यार्थ चिन्तन के बल से इन ८ बातों को लेकर अहंकार गर्व, मद का भाव होता ही नहीं। परपदार्थ और परभावों में ज्ञानी जीव मद कैसे कर सकता है मान कषाय से उत्पन्न जो मद (मात्सर्य आदि) दुर्भाव ज्ञानी के नहीं होते। अज्ञानी जीव के ही ये मद के भाव होते हैं ज्ञानी किस प्रकार के श्रद्धान और चिन्तनसे मद के

अभाव रूप रहता है अब इसकी बात सुनिये ।

तीर्थंकर प्रकृति का बंधक यह ज्ञानी संत सर्व मदों से दूर है

सम्यग्दृष्टि के ज्ञान मद का अभावः—

इस जगत में अज्ञानी जीव कभी कुछ ज्ञान पाते हैं तो ज्ञान का मद उन पर छा जाता है। उनके ऐसी मिथ्या धारणा बन जाती है कि मैं विशिष्ट ज्ञान वाला हूँ। और जो अपने से कम ज्ञान वाले लोग उसे दिखते हैं उनको देखकर यह ऐसा निर्णय कर लेता है कि सबसे अधिक ज्ञानवान मैं ही हूँ। अपने को ज्ञानी मानना और फिर उसमें ऐसा अहंकार करना कि दूसरों के तिरस्कार करनेका भावबने वहहै ज्ञान का मद। सम्यग्दृष्टि ज्ञानी आत्मा तो ऐसा सत्यार्थ चिन्तन और विचार रखता है कि हे आत्मन्! ये तेरा पाया हुआ ज्ञान तो इन्द्रियाधीन है और ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम के भी आधीन है विनाशीक है वातपित्त कफादिक विकारों से विनाश को प्राप्त कभी भी हो सकता है ऐसे तुच्छ ज्ञान का गर्व कैसे करते हो तू तो केवल ज्ञान रूप विशाल ज्ञान का धनी है। इस मुझ आत्माका स्वभाव समस्त विश्व का ज्ञान कर लेने का है। ज्ञान का काम जाननाहै मेरा स्वरूप ज्ञान है ज्ञान को जानने की कोई सीमा नहीं है जो सत् है वह सभी जानने का स्वभाव मेरा है ऐसे अतुल ज्ञान निधान के परिचयी को ज्ञानमद नहीं होता।

उस केवल ज्ञान रूप स्वभाव के समक्ष यह पाया हुआ कई भाषाओं का ज्ञान कितने ही साहित्य छन्दों का ज्ञान, वेद पुराण, शास्त्र सिद्धान्तों का ज्ञान यह समुद्र में एक बूंदके बराबर भी अनुपात में नहीं हैं मेरा स्वभाव तो विशाल ज्ञान का है। मनःपर्ययज्ञान, परमावधिज्ञान, सर्वावधिज्ञान ये सब ज्ञान भी केवलज्ञान के समक्ष तुच्छ हैं सूर्य के सामने मामूली छोटे दीपक

का क्या प्रकाश। अरे तभी तो ४ ज्ञान के धारीऐसे गणधरादिक केवलज्ञान के समक्ष अपने ज्ञान को नगण्य गिनते हैं। फिर मतिश्रुत रूप इस साधारण ज्ञान पर क्या इतराना जो ज्ञान पाया है उस ज्ञान का इतराने में उपयोग न करो। गर्व न करो इस पर, परन्तु अपने आत्म स्वरूप की पहुँच में उपयोग करो। भेद विज्ञान को प्राप्त करो। भेद विज्ञान के प्रताप से यह ज्ञान-कण उस केवल ज्ञान जैसे महान प्रकाश का कारण बन जाता है जैसे अग्नि का छोटा सा कण बहुत बड़ी ज्वाला का कारण बन जाता है।

यदि इस पाये हुये ज्ञान का दुरूउपयोग किया तो यह ज्ञान मद अनेक दुर्गतियों और कुगतियों में भटकने का कारण बन सकता है ज्ञान का घमण्ड करना बिलकुल व्यर्थ है। अरे तुममें क्या सभी कलायें प्रगट हुई हैं लोक पर दृष्टि डालो तो तुमसे भी कहीं अधिक कलावान जीव मिल जायेंगे।

एक नये पढ़े लिखे बी० ए० पास कोई जेन्टिलमेन थे एक दिन उनके इच्छा हुई गर्मी के दिनों में कि नदी में सैर की जाये। पहुँचे नदी के किनारे। नाविक को बुलाया और कहाकि नदी की सैर करा दोगे क्या? हाँ बाबू जी ५) रु० लूंगा, नाविक ने कहा। जेन्टिलमेन बोला हाँ देंगे ५)रु०। चलो लाओ नाव। वह बाबू जी नाव में बैठ गये। अब वह तो बी० ए० पास था, नाव में और कोई व्यक्ति बातचीत करने को था नहीं, पढ़े लिखे लोग बातचीत ज्यादा करते ही हैं। उस नाविक से ही बातचीत करने लगे। बातचीत के ही सिलसिले में बाबू जी ने नाविक से पूछा तुम क्या पढ़े लिखे हो। वह बोला कुछभी नहीं बाबू जी। क्या ए० बी० सी० डी० भी नहीं पढी, न बाबू जी। अ आ इ ई भी नहीं जानते क्या? न हम कुछ भी नहीं पढे। बाबू जी बोले उस नाविक से नालायक बेवकूफ और भी बहुत कुछ। ऐसे अन-

पढे लोगों ने ही तो भारत को वर्बाद किया है । वह सुनता रहा बेचारा सब कुछ । थोड़ी दूर चलने पर तेज हवा आई, नदी के बीच में नाव पहुँच गई , डगमगाने लगी नाव । नाविक बोला बाबू जी अब तो नाव का बचाना कठिन है आपने तैरना सीखा है या नहीं बाबू जी बोले न भाई । वह बोला नालायक बेवकफ ऐसे ही लोगों का जीवन तो बरबाद है जो सब कुछ सीखा पर जीवन को बचाने की कला सीखा ही नहीं । लो मैं तो तैर कर किनारे पहुँच जाऊंगा अब आप क्या करोगे । बाबूजी बोले भाई बचालो किसी तरह । तो कहने का आशय यह है कि कुछ अक्षर विद्या, साहित्य, कला, जान लिया तो उससे क्या? इस अल्पज्ञान में नहीं अटकना चाहिये । आत्मज्ञान की कला प्राप्त करना चाहिये । पढे लिखेलोग हरबात में कुतर्क सी करने लगते हैं और हर बात में पूछने लगते हैं ऐसा क्यों? उन्हें यह क्यों का रोग ही लग जाता है । ज्ञान पाकर तो विनयी और नम्र बनना चाहिये । फिर सोचो गर्व करने लायक क्या है तुम्हारे पास । यह ज्ञान तो पर्याय समाप्त होने पर नियम से विनसेगा । तथा बीच में रोगादिक से मन्द पड़ जाता । और फिर विचारकरोनीचपर्यायों में कितना ज्ञान रहा । कैसी-कैसीज्ञानकी हीनता जनक पर्यायें एकेन्द्रिय से असज्ञी पंचेन्द्रिय तकप्राप्तकीं,इस ज्ञानमदके ही कारण ।

इस ज्ञान को पाकर मिथ्यामार्ग में नहीं लगाना चाहिये परन्तु जैसे संसार भ्रमण का अभाव हो उस दिशा में अपने ज्ञान का उपयोग करो ।

ज्ञानी जीव विचारता है कि मैं पूर्ण ज्ञान सागर हूं । अपनी उस स्वभाव कीमहिमाकेसामनेउसेइस इन्द्रियजनितनिकृष्ट ज्ञान पर गर्व कैसे हो । अपने स्वरूप का परिचयी और रूचिया होने से ज्ञानी पाये हुये ज्ञान का प्रयोग आत्म कल्याण की प्रगति में करता है वह मद न कर विनय शील होता है

आत्मा का जो स्वरूप है उस ज्ञान के समक्ष आज का पाया हुआ ज्ञान क्या मूल्य रखता है। ज्ञानी पुरुष के ज्ञान का मद नहीं रहता। ऐसा मद रहित यह भव्य पुरुष विश्व के प्राणियों की भूल को देखकर कि ऐसे ज्ञान का स्वभाव तो है इनका पर इनकी अपने उस सहज ज्ञान पर दृष्टि नहीं जाती लौकिक ज्ञान की तृष्णा भी बनाये हैं, इस भूल के कारण संसार के संकटों को सह रहा है यह विश्व। इन सब जीवों के आत्म विशुद्धि जगे और अपने आपके उस सहज ज्ञान स्वरूप को पहिचाने ऐसी परम करुणा जिस दर्शनविशुद्ध अन्तरात्मा के जगती है उसके तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता है अर्थात् निकट भविष्य में वह इस विश्व को सन्मार्ग में लगाने वाला नेता बनता है।

पूजामद का अभावः—

ज्ञानी जीव प्रतिष्ठा ऐश्वर्यवान भी हो तो उसका भी मद नहीं करता। मेरी बड़ी पूजा होती है, मेरा बड़ा चलता है इज्जत है, लोग सिर झुकाते हैं इस प्रकार अपने सम्मान का, पूजा का घमन्ड होना वह भी एक बड़ा अंधेरा है। सम्यग्दृष्टि विचार करता है कि ये राज्य ऐश्वर्य आत्मा का स्वभाव नहीं, कर्म का किया हैं, विनाशीक है, पराधीन है, दुर्गति का कारण है। पूजा ऐश्वर्य का मद क्या करे? राजा इन्द्र का भी ऐश्वर्य न रहा, रावण के द्वारा पराभव हुआ। तोप, बन्दूक टैन्क, सेवक, मोटरें, कारखाने, हाथी, घोड़े, रथ आदि एक बम पड़ जाने से सब भस्म हो जायेंगे। अपनी अन्तर विभूति को देख। मेरा ऐश्वर्य तो अनन्त चतुष्टयमय अक्षय अविनाशी अखंड सुखमय है तथा अनन्त ज्ञानदर्शनमय है अनन्तशक्ति रूप है। ये कर्मकृत महाउपाधि रूप, आत्मा को क्लेशित कर दुर्गति पहुंचाने वाले स्वरूप को भुलाने वाले ऐश्वर्य मेरी आत्मा का

स्वरूप नहीं। इस घमन्ड के कारण ही तो लड़ाई झगड़े, कलह आदि हो जाते हैं। सासबहू की लड़ाई का कारण घमन्ड ही है, सास समझती है कि हम तो सास हैं, माता हैं, हम तो इतनी बड़ी पोजीशन की हैं और पढी लिखी बहुयें समझती हैं कि यह अपढ है बेवकूफ है, मैं इतनी पढी लिखी हूं लो इस ही घमन्ड के भाव से सास अपने में ऐठ रही है और बहू अपने में। तो सोचो इस प्रकार के अहंकार भरे भाव में दोनों में सदव्यवहार कैसे हो सकता है इसी प्रकार समाज में भी कोई विसम्वाद होजाता है तो उसका भी कारण अभिमान ही है। ये अभिमान कलह का मूल है, वैर का कारण है। इस पूजा के मद में महापरिग्रह और महाआरम्भ में पड़कर नरकायू का बंध होता है। सम्यग्दृष्टि जानता है कि इस वाह्य ऐश्वर्य को पाकर मैं कितने दिन पूज्य रहूगा, ये समागम तो क्षण में नष्ट हो जायेगा जगत में धन के लोभी, तथा अज्ञानी लोक मुझे ऊंचा माने हैं सत्कार करें हैं सो राज्य संपदादिक का मेरे कितने दिन का स्वामीपना है। मुझ सारीखे अनंतानंत जीव संपद को अपनी मानते नष्ट हो गये परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है। एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य से क्या सम्बन्ध ? वह तो विचारता है कि ऐश्वर्य पाकर गर्व रहित, वाँन्छा रहित, समता सहित विनयवंत पना ही शुभगति का कारण हैं। अन्य जीवों को भी अशुभ के उदयवश दारिद्र करि पीड़ित, अशुभ सामग्री सहित देखि अवज्ञा तिरस्कार नहीं करता उन के प्रति करूणा भाव ही रखता है।

यह पूजा का मद एक बहुत विकट अंधेरा है। यह है तो तुच्छ कर्मों से लदा संसार भ्रमण का अधिकारी और अपने को मानता है सबसे उच्च। इस भ्रम भूल से बढकर और क्या विपदा होगी। ज्ञानी के पूजा का मद रंच भी नहीं होता वह तो स्वरूप दृष्टि करके विश्व के समस्त जीवों में एक रस बनकर रहता

है विश्व के प्राणियों में सहज स्वरूप का दर्शन कर उसके ऐसा परिणाम वनता है कि सभी जीव अपने सहज ज्ञान ज्योतिस्व-रूप को अनुभव में लें तो मद के भाव समाप्त हो जाये ऐसी करुणा के भाव से तीर्थंकर प्रकृति का वंध होता है ।

कुल मद का अभाव:—

कुल का मद भी अज्ञानी प्राणियों पर छाया रहता है जगत में पिता के वंश को कुल कहते हैं अच्छे कुल में पैदा हो गये तो अज्ञानी जीव इसी पर इतराते हैं। सम्यग्दृष्टि तो ऐसा विचार करता है कि मेरे आत्मा को कोई उत्पन्न ही नहीं करता। इसलिये अमूर्तिक ज्ञानस्वरूप जो मैं उसका क्या कुल ? ज्ञातादृष्टा स्वभाव ही मेरा कुल है । जव शरीर ही तू नहीं तो शरीर सम्बन्धी कुल में अहंकार कैसा ? और फिर इस पर्याय में जो उत्तम कुल पाया सो इसका गर्व करना महाअनर्थ है। तू अन्तर्दृष्टि करके देख कि तेरा कुल वास्तव में क्या है । तेरा कुल तेरा चैतन्य स्वरूप है जो कुल तेरे साथ सदा से है और सदा रहेगा। तू उस अपने चैतन्य कुल को पवित्र कर ।

यदि इस पौदगलिक कुल को लेकर अभिमान किया तो निकट समय में ही तू निद्य कुल में उत्पन्न हो जायेगा पूर्व भवों में तू अनंतवार नारकी भया अनंतवार सूअर- गधा गीदड़ , ऊँट, मीढा, भैंसा इत्यादि के कुल में उपजा अनेकवार म्लेच्छ, भील, चाँन्डाल, चमार के कुल में उपजा। अनेक वार नाई धोवी, लुहार आदि दरिद्री कुल में उत्पन्न हुआ। अव शुभ कर्म के उदय से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों के कुल में आया सो इसका घमन्ड करना योग्य नहीं , ये तो विनशेगा उत्तम कुल पाने का फल तो ये है कि मोक्ष मार्ग का साधक जो रत्नत्रय उसमें प्रवर्तन करें और अधम आचरन का त्याग करें ।

सम्यग्दृष्टि के तो ऐसा विचार रहता है कि जो मैंने पुण्य के प्रभाव से उत्तम कुल पाया है सो मुझे नीच कुल के मनुष्य की तरह अभक्ष्य-भक्षण करना योग्य नहीं, तथा कलह, विसंवाद, मारण, ताड़न, गाली, भंडवचन बोलना योग्य नहीं। हास्यवचन, असत्यवचन, छलकपट करना योग्य नहीं। अगर उत्तम कुल पाकर के निंद्य कर्म करूंगा तो इस लोक में धिक्कार-योग्य होय आगे नीच कुल में, दुर्गति में भटकूंगा। इन सम्यक विचारों से ज्ञानी के कुल का मद भी नहीं होता है।

जाति मद का निषेध:—

माता के पक्ष को जाति कहते हैं सो सम्यग्दृष्टि जीव जाति के गर्व से भी रहित होता है। मैं उच्च जाति का हूँ मेरे मामा का वड़ा चला है ऐसे जाति का मद अज्ञानी किया करता है। ज्ञानी का तो यह चिन्तन है कि तुम्हारी जो यह उच्च जाति है यह भी तुम्हारा स्वभाव नहीं है सब कर्मों की परिणतियाँ हैं और विनाशीक हैं। किसी की जाति किसी का यह शरीर क्या सदाकाल रहता है? अरे इस उच्च जाति का क्या अभिमान करते हो? जो तुम्हारी वस्तु ही नही उस वस्तु का अभिमान करना यह तो एक अंधेरा है। सन्मार्ग से च्युत होने का ख्याल है। अपने आपके अन्तर के स्वरूप को देखो आत्मा की बात सोचो तो ज्ञात होगा कि यह मैं तो निर्लेप, आकाशवत् शुद्ध अमूर्त एक चैतन्यतत्व हूँ यह क्या उच्च है और क्या नीच है? नहीं यह तो चैतन्य स्वरूप मात्र है।

अरे जिस जाति में तू उत्पन्न हुआ, वह जाति विनाशीक है, तेरा स्वरूप नहीं है तूने अनंतबार नीच जाति पाई और एक बार उच्च जाति में पैदा हुआ तो फिर इसका क्या गर्व करना? कुल जातियाँ ८४ लाख हैं:- प्रथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, और नित्यनिगोद इतरनिगोद इन प्रत्येक की ७-७ लाख

जाति हैं सो ४२ लाख हुई । प्रत्येक वनस्पतिकाय की १० लाख जाति सो ५२ लाख हुई । द्विन्द्रिय, त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय इन विकलत्रयों की प्रत्येक की २-२ लाख इस प्रकार ६ लाख ये हुई । तिर्यन्च पंचेन्द्रिय की ४ लाख, देवनारकी की ४-४ लाख और मनुष्य की १४ लाख इस प्रकार कुल ८४ लाख जाति हैं। अब सोचो कैसी- २ जातियों में यह जीव उत्पन्न हुआ । अनेकबार निगोद में उपजा तथा कूकरी, सूकरी, चांडाली, भीलनी, चमारी दासी, वेश्यायों के गर्भ में अनेक बार जन्म धारण किया । इसलिये उच्च जाति पाकर दूसरे का तिरस्कार नही करो । ये पाई हुई जाति कुलतो विनाशीक और कर्मके आधीनजान उत्तमशील पालने में, क्षमाधारण, में स्वाध्याय, परोपकार में प्रवर्तनकर जाति का उच्चपना सफल करो । अरे यह जाति में बंधा होना तो एक बंधन है, त्रुटि है उपद्रव है ज्ञानी पुरुष के जाति का मद नहीं होता । अध्यात्म के नाते इस आत्मतत्व की दृष्टि करें और मैं तो एक चैतन्य स्वभाव हूँ वही मेरी जाति है ऐसा निर्णय ही शान्ति का मार्ग है- और मोह, रागद्वेष से प्रथक होने का मार्ग है यही धर्म है ऐसा धर्म ज्ञानी के होता है अतः वह जाति मजहब, सम्प्रदायों के पक्ष से अतीत होने से निर्मद है ।

बलमद का अभाव:—

ज्ञानी पुरुष शरीरबल से विशिष्ट भी हों तो भी उनके बल का मद नहीं होता है । सम्यग्दृष्टि विचार करें हैं मैं आत्मा अनन्त बल का धारक हूँ । इस शारीरिकबलसे मेरा क्या? यहाँ के दो चार लोगों के मुकाबले में यदि कुछ बल हो गया तो क्या हो गया वह सर्वोत्कृष्ट बल तो नहीं कहलाया और जिसमें सर्वोत्कृष्ट बल है उनके अभिमान नहीं होता ।

सबसे अधिक बल बताया है तीर्थंकर देवकी अंगुली में । १०-२० बकरों में जितना बल है उतना बल १ गधेमें होता है ।

१०-१२ गधों में जितना बल होता है उतना बल एक घोड़े में होता होगा। १०-१२ घोड़ों में जितना बल उतना एक भैंसा में होता है। और ५०० भैंसा के बराबर बल एक हाथी में होता है और ५०० हाथियों के बराबर बल १ सिंह में होता है ५०० सिंहों के तुल्य बल एक अष्टापद में होता होगा। और १०लाख अष्टापद बराबरबल एक बलभद्र मेंबलभद्रसेकरोड़ गुणाबल एक नारायण का होता है। ९०नारायण बराबरबल एक चक्रवर्ती का होता है १०० चक्रवर्ती बराबर बल एक देव के होता है। करोड़ देवताओं बराबर बल एक इन्द्र में होता है और अनन्त इन्द्रों का बल एक तीर्थंकर की अंगुली में होता है।

पुराने समय की बात है एक समय जब सभा भरी हुई थी नेमिनाथ स्वामी के समय में और वहां कुछ पुरुषों को गर्व आने लगा था जो कुछ शान की बातें कर रहे थे तब एक विवेकी ने यह ही कहा था कि कोई भी सुभट नेमिनाथ की अंगुली को टेढी कर दे। तो हैरान हो गये बड़े-२ सुभट। पसीने से लथपथ हो गये थे पर एक अंगुली को टेढी नहीं कर सके। तो यह थोड़ा सा बल क्या बल है? अपने उस अनंत बल को देखना चाहिये। ज्ञानी पुरुष को देह के बल का अभिमान नहीं होता। और देह ही जब मैं नहीं हूँ तो यह बल मेरा कहां से है और फिर शरीर का बल शरीर के जगह है उस बल से आत्मा को बल और शान्ति नहीं मिलती भले ही ध्यान देने की दृष्टियों में सहायक हो फिर भी ज्ञातादृष्टा रहना, धीर गम्भीर रहना, परपरिणतियों के कारण विचलित न होना ऐसा अचलितपना ही आत्मा का बल कहलाता है।

ज्ञानी तो शारीरिक बल पाकर मद न करके उसको उपयोग तपश्चरणकर कर्म के नाश करने में करता है। पर के घात करने में दूसरे का अपमान तिरस्कार करने में शारीरिक

बल का उपयोग न कर धर्म साधन का कार्य शरीर के बल से लेता है।

अगर कोई मूढ अपने बल का दुरूपयोग करे तो उसका परिणाम अत्यन्त भयानक होता है नरकगति में असंख्यात काल प्रमाण दु:ख भोगता है पशु तिर्यंच में जन्म ले तो मारना,ताड़ना लादना, भूख, प्यास आदि नाना तरह के दु:ख भोगने पड़ते हैं। और अगर निगोद में चला गया तो वहाँ के दु:खों का कहना ही क्या? अरे अहंकार करने लायक कोई बल ही नहीं यहाँ। अपने शुद्ध ज्ञायक स्वभावी अनन्तबली आत्मा के ध्यान से निर्मद और निर्मल बनना चाहिये।

ऋद्धि मद का अभाव:—

ज्ञानी के धन संपदा आदि ऋद्धि पानेका या किसी कला रूप ऋद्धि पाने का गर्व भी नहीं होता। चित्र बनाने की, संगीत की, धन कमाने की कलायें सब असार हैं अशान्ति को ही बढ़ाने वाली हैं उन पर क्या अहंकार करना। अरे केवल ज्ञान की कला के समक्ष सब तुच्छ हैं। बड़े पुरूषों या कुछ साधु जनों को ऋद्धियों पर अभिमान हो सकता है परन्तु ज्ञानी पुरूष जानते हैं कि आत्मा की सम्यक्ज्ञान रूप ऋद्धि के सामने इनकी क्या कीमत। मेरा स्वभाव मान करने का है ही नहीं। आत्म वैभव के सामने इन तुच्छ सी ऋद्धियों, कलाओं का बहुमान ज्ञानी पुरूष को होता ही नहीं। ज्ञानी पुरूष तो धन परिग्रह रूप ऋद्धि समृद्धि को भार व बन्धन मानता अस्तु उसकी वृत्ति गर्व करने की न होकर परोपकार करने की होती है। वह तो परिग्रह का सम्बन्ध छोड़कर आत्मीक धन की सम्हाल में लगता है ये बाह्य ऋद्धियाँ तो रागद्वेष, भय, सन्ताप, शोक, क्लेश, वैर का कारण हैं, दु:ख रूप दुर्गति का बीज हैं विचार करता है। कि वह जैसे कफ में पड़ी मक्षिका आपकूं छुड़ावने को समर्थ नांही और कर्दम

के द्रह में पड़ा हस्ती अपने को निकालने को समर्थ नाहीं होय है तैसे मैं भी इस धन कुटुम्बादिक के फन्द में से निकलना चाहूं हूं परन्तु अशक्तपना तें तथा रागादिक के प्रबल उदय तें ही यह नाटक बन रहा है। इस प्रकार अपमान आदिक की करने वाली यह बाह्य ऋद्धि विभूति से निकलने का इच्छुक सम्यग्दृष्टि पराधीन, विनाशीक, दुःखरूप सम्पदा का गर्व नहीं करता है। वह तो अपनी निन्दा करता है कि मैं अपनी स्वाधीन, अविनाशी आत्मीक लक्ष्मी को छोड़ इस खाक समान लक्ष्मी को नहीं छोड़ पा रहा। ऐसे ज्ञानी पुरुष के अहंकार कैसे हो सकता है।

तपमद का अभाव:—

कोई २ अज्ञानी अनशन उपवास तथा काय क्लेशादि तप में बढ गये तो उसी को लेकर अहंकार करने लगते हैं। अपने तप व्रत संयम को प्रदर्शित करने और दिखाने की चीज बना डालते अरे यह धर्म के कार्य तो गुप्त ही गुप्त करने के हैं धर्म गुप्त ही होता है दिखावे में नहीं। जो दूसरो को अपने बारे में कुछ दिखाना चाहते हैं वे तो मोही पुरुष हैं। अपने निजचैतन्य स्वरूप में प्रतपन करना सो तप है उसमें रमण करने की निवास करने की भावना ज्ञानी के रहती है। तपस्या में सारभूत तप तो वही है जिस तप के प्रभाव से भव-२ के संचित कर्म भी निष्फल हो जाते हैं अज्ञानी का तप तो वैसे ही निष्फल है।

जो तपस्या का मद करता है वह ऐसे मूर्ख दानी की तरह है जो अपने धन का दान कर दे और बार-२ उस काम का बहुत २ प्रसाधन करे, सबको जताये लिखवाये, बुलवाये कोई न पूंछे ज्यादा तो अपने आप याद करा कर जताता है कि मैंने दान दिया ऐसे परिणाम से वह धन भी लुटा और परि-

णाम से भी लुटा । ऐसे ही उस तपस्या में शरीर से भी लुटा और परिणामों से भी लुटा , जहाँ तप करके उस तप की प्रशंसा चाही जाये या अपने मुंह से प्रशंसा करवाने का यत्न किया जाये । ज्ञानी पुरूष को तप में मद नही होता है वह तो अपने अतुल वैभव को निरखता है ऐसा आत्मानुभवी पुरूष तुच्छ तप में अहकार नहीं करता । मान कषाय की स्थिति में, मैं बड़ा तपस्वी हूं , अनेक उपवास कर डालता हूं , धूप वर्षा सर्दी में खड़ा रहता हूं आदि कषाय सम्बन्धी विकल्प बनाता है ऐसा तप दुर्गति का ही कारण बनता है। वह सम्यग्दृष्टि विचार करता है कि मद तो तप का नाश करने वाला है और जो तप के प्रभाव से अष्टकर्मरूप वैरी को नष्ट कर परमात्मा-पने को प्राप्त भये ते धन्य हैं। मैं संसारी आसक्त हुई इन्द्रियों को भी विषयों से रोकने को समर्थ नहीं, काम का विजय किया नहीं, निद्रा, आलस प्रमाद को जीता नहीं , इच्छा रोकने में समर्थ नहीं तथा स्तवन में- निन्दा में , लाभ में- अलाभ में समभाव हुआ नहीं तब तक हमारे क्या तप ? तप तो वह है जो कर्म वैरी के उदय को जीत शुद्धात्मदशा में लीन हो जाये । वे पुरूष धन्य हैं जिनके वीतरागता प्रगट हुई है ऐसा विचार कर सम्यग्दृष्टि अपने अल्पतप का मद नहीं करता ।

शरीर के रूप का मदः—

शरीर सम्बन्धी रूप का मद भी ज्ञानी को नहीं होता । सम्यग्दृष्टि तो अपने रूप को ज्ञानमय देखता है। इस हाड़ चाम मय शरीर को वह अपना रूप ही नहीं मानता। देह सुभग है , लोक में प्रिय है मैं इसके कारण से पुण्यवान जचता हूं ऐसा शरीर का गर्व किया जाये तो उसके फल में पापबंध होकर नीच शरीर की प्राप्ति ही तो होगी। और फिर देह का रूप

तो क्षणिक, विनाशीक ही तो है। मोही और रूप मद का अभिमानी पुरुष शरीर को आभूषणों से सजाता, गाल बैठे हैं मुंह से लार बहती है निर्बल हो गये हैं फिर भी देह को सजाने और संभारने की ही बुद्धि है। यह नहीं जानता कि इस रूप को रोग, वियोग, दारिद्र, जरा थोडी ही क्षणों में कुरूप कर देगा। ऐसे हाड़ चाममय शरीर में रागी हो मद करना बड़ा अनर्थ है सुन्दर रूप पाकर अपने शील को मलीन नहीं करना चाहिये। दरिद्री, दुखी रोगी, अंगहीन कुरूप या मलीन देह देख उसका तिरस्कार करना, ग्लानि करना अज्ञान है। राजगृही की नर्तकी वासवदत्ता को अपने रूप सौन्दर्य पर बढ़ा अभिमान था एक दिन एक भिक्षु उसके दरवाजे पर मांगने को आया तो नर्तकी ने उस दरिद्री को देखकर घ्रणा से उसके ऊपर थूक दिया। भिक्षुक थूक को पोंछ कर चुपचाप चला गया। कुछ समयबाद उस नर्तकी के सारे शरीर में कोढ हो गया। एक दिन वह भिक्षुक उसी रास्ते से निकला, जिस रास्ते में नर्तकी सबकी घृणापात्र बनकर भिक्षा मांगती थी उस भिक्षुक को देखकर नर्तकी ने प्रायश्चित रूप में उससे क्षमा मांगी। भिक्षुक ने कहा बहिन ! जिस शरीर के मद में तुमने आत्मा का तिरस्कार किया है आज अपनी उसी आत्मा का सम्मान करो यही सच्चा प्रायश्चित है। तो रूप के मद में इतराना व दूसरे का तिरस्कार करना योग्य नहीं। संसार में महाकूरूप मनुष्य तिर्यन्चों में मलीन-२ रूप अनेक बार पाया है अतः रूप का मद नहीं करो। सम्यग्दृष्टि जीव देह से रहित अपने आत्मा का अनुकरण करता है और उक्त सभी ८ प्रकार के मदों से रहित होता हुआ विश्व पर करूणा भाव होने से तीर्थंकर प्रकृति का बंधक होता है।

अभी तक दर्शनविशुद्धि भावना के प्रसंग में ८ शंकादिक दोष व ८ मद दोषों का वर्णन किया। अब ६ अनायतन व ३ मूढता रूप जो दोष हैं उनकी चर्चा होगी।

६ अनायतनः—

यह सम्यग्दृष्टि पुरूष जब बाहर में किसी का सहारा-या आलम्बन लेता है तो जो धर्म के आयतन हैं, स्थान हैं उन्हीं का आलम्बन लेता है धर्म के आयतन ६ हैं सच्चादेव, सच्चा-शास्त्र और सच्चा गुरु तीन तो ये और सच्चे देव के सेवक अर्थात् मानने वाले, सच्चेशास्त्र के मानने वाले और सच्चेगुरु के मानने वाले, ये ६ धर्म के आयतन हैं और इनसे उल्टे ६ अनायतन हैं। कुदेव,कुशास्त्र, कुगुरु और कुदेव सेवक, कुशास्त्र या कुधर्म सेवक और कुगुरु सेवक ये धर्म के स्थान न होने से ६ अनायतन हैं। सम्यग्दृष्टि इन ६ अनायतनों का आश्रय नहीं लेता है।

कुदेव और उसके सेवकः—

जो रागी द्वेषी, कामी, क्रोधी, लोभी शस्त्रादि सहित और मिथ्यात्व सहित हैं उनमें सम्यक्धर्म नहीं पाया जाता, इस -लिये कुदेव हैं अनायतन हैं। जैसा कि छःढाला में भी कहा है :-

जो राग-द्वेष मल करि मलीन,वनितागदादि जुत चिन्ह चीन।
ते हैं कुदेव तिनकी जुसेव, शठकरत,न तिन भवभ्रमण छेव॥

अर्थात्—जो राग-द्वेष-रूपी मैल से मलिन हैं,जिनको स्त्री-गदादि अस्त्रशस्त्र से पहिचाना जा सकता है, वे सब कुदेव हैं। उनकी सेवा केवल देव के सच्चे स्वरूप को न जानने वाले लोग ही करते हैं। उनके संसार के भ्रमण में कभी कमी नहीं हो सकती है।

जो देव तो नहीं है पर जिसको देवत्वपने की श्रद्धा से

पूजा जाये माना जाये वह कुदेव है जिसमें देवत्व नहीं है वह कुदेव है जब उनको मानने वाले अपने आशय में यह बात लायें कि यह देव है और है नहीं देव, तो उनका नाम कुदेव है वे स्वयं कुदेव नहीं हैं वह तो जो है सो है। पर मानने वाले कुदेव बना डालते हैं जैसे यहाँ भी देखलो- कोई अरहंत देव की मूर्ति है, सर्वज्ञ देव की मूर्ति है और कोई यह मान्यता रखे कि ये देव मुझे बच्चे दे देते हैं। अथवा मुझे मुकद्दमा जिता देते हैं तो उसने तो उसे कुदेव कर डाला। यह कुदेव नहीं हैं पर माननेवालों का जो आशय है उस आशय का आलम्बन मूर्ति में आगया है। तो जो देव नहीं हैं वहाँ अपने देवत्व की प्रसिद्धि की हो अथवा अन्य भक्तजनों ने देवत्व की प्रसिद्धि की हो तो उनका नाम कुदेव है। ऐसे असत्य का जो आश्रय है वही अनायतन है।

और ऐसे कुदेव के मानने वाले जो लोग हैं उन लोगों में हिलमिलकर रहना, उन्हें साधर्मी मानना, उनकी प्रंशपा करना धर्मातमा समझना यह भी अनायतन हैं। क्षेत्रपाल,देवी, दिहाड़ी आदि को वंदने वाले अनायतन हैं।

कुशास्त्र और उसके सेवकः—

हिंसा के आरम्भ की प्रेरणा करने वाला, रागद्वेप कामादिक दोप का बढाने वाला सर्वथा एकान्तका प्ररूपक जो शास्त्र हैं वे कुशास्त्र हैं और धर्मरहित हैं। और जिन शास्त्रोंमें आत्मा के हित की बात लिखी हो। ज्ञान को बढ़ाने वाले और ध्यान में लगाने वाले मार्मिक वचन जिन शास्त्रों में लिखे हों वे सच्चे शास्त्र हैं। कुशास्त्रों में तो आत्मा की अहितकारक क्रोध, मान, माया, लोभ को उत्पन्न करने की शिक्षा दी जाती है उन कुशास्त्रों में जो बातें लिखी हैं उनका जो अर्थ निकलता है उस अर्थ का कोई आश्रय करे तो अहित होगा-इस कारण वे कुशास्त्र हैं।

ऐसे कुशास्त्रों के आश्रय से जीव दुःख पाता है। मिथ्याशास्त्र के पढ़ने वाले, इनकी सेवा भक्ति करने वाले एकान्ती धर्मका स्थान नहीं अतः अनायतन हैं।

कुशास्त्र की प्रसंसा करने वालों में रहना उनके पढ़ने वालों के प्रति मन में आदर भाव रखना सो भी अनायतन हैं।

कुगुरु और उसके सेवक:—

पंचेन्द्रियों के विषयों के लोलुपी, परिग्रह के धारी, आरम्भ करने वाले ऐसे भेषधारी गुरु नाहीं धर्म हीन हैं इसलिये अनायतन हैं जिन्हें अपने ज्ञान ध्यान तप की खबर न हो और अपने आपका गुरुत्व जचायें, पुजाया चाहें अपने को वे कुगुरु हैं। विषयों की आशा के वश तो ग्रहस्थ भी हैं वे ज्ञान ध्यान तप में भी नहीं लग रहे हैं, आरम्भ परिग्रह वहां भी है किन्तु ये अपने आपको गुरु तो नहीं कहलवाते। गुरु का लक्षण न हो और अपने को गुरु कहलवाये, ऐसी प्रवृति करें तो वे कुगुरु कहलाते हैं। जैसा कि छःढाला में कहा है न :—

अन्तर रागादिक धरें जेह, वाहर धन अम्बर तें सनेह।
धारें कुलिंग लहि महत-भाव,तेकुगुरुजन्म-जल-उपल-नाव॥

यानि खोटे गुरु वे हैं जो गुरु का भेष रखकर भी गुरुपने के गुण से रहित हैं। जो अपने मनमें रागद्वेष रखते हैं और धन वस्त्रादि से मोह करते हैं जिनका चित्त मोह और विषयों में लिप्त रहे वे कुगुरु हैं। निश्चित है कि ऐसी कुगुरु की संगति जो भी करेगा उसका पतन ही होगा ये कुगुरु पत्थर की नाव की तरह हैं, जो स्वयं तो पतन की भंवरों में फंसते हैं और अपने अनुसरण करने वालों को भी डुबा देते हैं। जो कुगुरु के सेवक हैं वे धर्म तें रहित हैं अतः अनायतन हैं उनके सेवकों की प्रसंसा करना, उन्हें धर्मात्मा समझना भी अनायतन है।

कुदेव, कुशास्त्र व कुगुरु को मानने वाले चाहे अपने रिश्तेदार हों, चाहे कुटुम्ब के लोग हों, चाहे मित्र मंडली के लोग हों वे भी धर्म के अनायतन हैं। यों कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र और इनकी सेवा भक्ति करने वाले इन ६ में सम्यक्‌धर्म नहीं हैं ऐसा दृढ श्रद्धान दर्शनविशुद्ध सम्यग्दृष्टि के होता है। सम्यक्ती के इनका आश्रय नहीं होता है। इतना स्पष्ट श्रद्धान है इस ज्ञानी का कि रंच भी अनायतनों में मोह नहीं लाता है ऐसा पुरुष अपने आपको समझता है कि मैं ज्ञानानन्द स्वरूप हूँ, रागद्वेष रूप नहीं हूँ। ये तो भ्रमसे कल्पनासे रागद्वेप लगगये हैं। ऐसे ही समस्त प्राणी ज्ञानानन्द स्वरूप हैं किन्तु भ्रमवश कैसे वाह्यपदार्थों में झुके जा रहे हैं ये अपने ज्ञानानन्द का विकाश करें ऐसी परम करूणा का परिणाम होता है तो उस विवेकी के तीर्थंकर प्रकृति का वंध होता है।

अभी तक सम्यक्त्व के २५ दोषों में ८ शंकादिक दोप, ८ मद दोप और ६ अनायतन दोप इस प्रकार २२ दोपों का वर्णन हुआ अव शेप तीन दोप जो- लोक मूढ़ता, देव मूढ़ता और गुरू मूढ़ता (पाखण्ड मूढ़ता) हैं उनकी वात होगी। सम्यग्दृष्टि इन सव मूढ़ताओं से दूर रहता है।

लोक मूढ़ताः—

लोक मूढ़ता में धर्म नहीं है, लोक की परम्परा से जो चलता आया है सो मान लिया वह धर्म नहीं है। लोककी वहुत सी परम्परायें मूढ़ता से प्रचलितहो गईं। जैसे कहतेहैं कि एकसाधु महाराज जमुना में नहाने गये उनके पास था कमंडल। उन्होंने सोचा कि नहाते समय कोई कमंडल न उठा ले जाये सोपास ही में रेत में एक छोटा सा ढेर वनाकर उसमें कमंडल गाढ़ दिया, अब वहुत दूर-२ के लोग स्नान करने आ रहे थे, उन्होंने देखा और फिर सोचा यह तो कोई ऊंचा सन्यासी है यहरेतका भद्दूला

बनाकर फिर स्नान करने गया सो उन सबने भी एक-२ रेत का भढूना उसी जगह पास-पास में ही बना दिया। अब तो बहुत से रेत के ढेर उसी जगह हो गये। तो जब वहं साधु महाराज स्नान करके लौटे तो देखा कि उसी जगह आस पास ५०, ६०, ७० रेत के भढूने बने हुये थे- लो उनका कमंडल ही गायब हो गया- तो देखो यह भी मूढता ही तो है। इसी तरह देहातों में रास्ता चलते किसी जगह १०-५ पत्थर रखे हों तो प्रत्येक यात्री एक पत्थर उठाये और उस ढेर में एक पत्थर को डाल दे लो वह तो परम्परा चल गयी। बहुत बड़ा ढेर बन गया- अब लोग समझे कि यहाँ तो कोई देवता रहता है,उसकी मान्यताहो गई।

एक कथानक कहते हैं लोग कि कोई साधारण सन्यासी था उसे कहीं भिक्षा में लड्डू मिल गया- वह लिये जा रहा था हाथ में उसे। अचानक ही हाथ से छूटकर वह लड्डू मैला में गिर गया। खाने की तेज आशक्ति में उसने उस मल पर से उस लड्डू को उठा लिया और पोंछ डाला। और उसी जगह कुछ फूल डाल दिये। उसने-फूल तो इस आशय से डाले कि लोग हमारी पोल न जान पायें और लोगों ने समझा कि यहाँ कोई देव है सो सबने उस स्थान पर फूल डालना शुरू किया। वहाँ पर थोड़ी ही देर में फूलों का बहुत बड़ा ढेर लग गया। लो सबलोग फुल्लन देवी मानने लगे। थोड़ी देर बादएक विवेकी ने सोचा कि आखिर किस बात पर फूल चढाये जा रहे हैं, जरा समझ तो लें। उसने उन फूलों को हटाया। हटाने के बाद जो निकला उसको देखकर ग्लानि के कारण भागगया तो देखो इस तरह लोक मूढतायें प्रचलित हो गई।

लोक मूढता की अनेक रूढ़ियाँ हैं कोई पुरुष मुर्दा का हाड़ नख आदि नदी तक पहुँचाने में उसकी मुक्ति मानते हैं- अरे उसे तो मरने के बाद जहाँ जन्म लेना था ले लिया। हाड़

नख आदि नदी में डालने से क्या होगा। नदी में पहुँचाने से उसकी मुक्ति होगी क्या? तो देखो इस मान्यता को कितनी लोक मूढ़ता कहा जाये।

किन्हीं ने नदियों में स्नान करने में ही धर्म मान लिया और सोच लिया कि नदियों में स्नान करने से पाप छूट जाते हैं। यद्यपि स्नान करना ग्रहस्थ जनों के लिये ध्यान में सहायक है जो विषय कषायों के गन्दे कामों में रहते हैं वे ध्यान करने का विचार करते हैं तो गुरुदेव की पूजा करने के भाव से वे विनय के कारण स्नान करते हैं और स्नान करने में शरीरका मल भी दूर हो जाता है, शरीर हल्का हो जाता है कुछ उपयोग भी वदल गया। सो ध्यान के योग्य मन ठीक हो। यहाँ तक तो सही है किन्तु नदी में स्नान करने से मेरी मुक्तिहो जायेगी ऐसा होता हो तो १०, २०, ५० हत्यायें करके नहा डाले लो पाप धुल गये। अरे धर्म तो आत्मा के शुद्ध परिणामों में है। लेकिन इन वाहरी वातों को धर्म माने तो वह लोक मूढ़ता है।

भाई धर्म तो इतना ही है कि रागद्वेष न करें, पर वस्तु में मोह भाव मत लावें यह वात अगर वनती है तो आप अब भी धर्म कर रहे हैं और यह वात न वने तो फिर कर्मवंध में कुछ भी फरक न आवेगा। लोक मूढ़ता की वातों को कहाँ तक कहा जाये, मरे हुये का प्रतिवर्ष श्राद्ध करना। तत्व से यह तो वताओ कि तुमने अपने हाथ से नदी में कोई चीज डाल दी या किसी को देदी तो वह चीज उस जीव के पास पहुँचेगी क्या? जो कि मरकर न जाने कहां पहुँचा। युक्ति से सोचो जो अपने जीवन में जैसा परिणाम करे, धर्म करे वस वही साथ जाता है अन्य कुछ साथ नहीं जाता है, यहां तक कि मर जाने के वाद उसके नाम पर भी दस पांच हजार का दान करदें कुटुम्वी, तो उसका भी फल उस मरने वाले को नहीं मिलता है। उसके

भाव में कोई बात आये तब तो फल मिले।

किसी मरे हुये के पास श्राद्ध करके लोग कोई चीजें पहुँचाने की दम भरते हैं पर सोचो तो सही उसमें कितनी विडम्बनायें हैं। लेने वाले कहते हैं कि बढ़िया पलंग लाओ। हम तुम्हारे उस मरे हुये के पास पलंग पहुंचा देंगे। और दक्षिणा में कुछ धरा लेते हैं। ये सब लोक मूढ़तायें हैं।

भाई बुद्धि से काम लो धर्म तो आत्मा का आत्मा के पास है अन्यत्र कहाँ बुद्धि लगाई जा रही है ऐसी अनेक लौकिक कथायें हैं जिनमें दिखता है कि लोगों में कितनी मूढ़ताये भरी हुई है। लोक मूढ़ता का भाव सम्यग्दृष्टि पुरुष में नहीं आता है। कहीं पेड़ पर धज्जी (फटाकपड़ासा) बाँध देते उसी में मूढ लोग देवता मान लेते। यर्थार्थ तत्व का ज्ञाता आत्मा लोक मूढता से परे रहता है।

लोक में एक सत्ती होने की मूढता भी प्रचलित है अर्थात् पति के मर जाने पर उस पति को चिता के साथ जो उसकी स्त्री जल जाये तो वहाँ लोग मढिया बनाते हैं और सोचते है कि यह सत्तो है। अरे यह तो सरकार के कानून के भी विरूद्ध है और फिर भी मूढतावश कोई स्त्री मर जाये और उसे लोग सत्ती मानें तो यह लोक मूढता है। कर्त्तव्य तो यह था कि अपना शेष समय धर्मध्यान में और आत्मज्ञान में व्यतीत करती। अपना कर्त्तव्य धर्म पालन का है अब यह विचार होना चाहिये।

और भी अनेक मूढ़ताये हैं संकट दूर करने के अर्थ सोने चाँदी की कुछ मूर्ति बनाकर ग्रहों को प्रसन्न करना। ग्रहनि का दोष दूर करने को दान देना। संक्रान्ति का दोष मानना, टालना। और-२ भी सुखसाता के लिये देवो देवताओं की मान्यता की जाये सो कितनी मूढता है। कोई २ तो

बलि तक चढ़ाते हैं ये सब लोक मूढ़तायें हैं । और क्या यह भी लोक मूढ़तायें नही हैं कि चाहे वह जिन प्रतिमा ही क्यों न हो, उसके समक्ष चढ़ावा करें कि मेरे सन्तान हो, स्त्री हो विवाह हो, मुकद्दमा जीतें यह जिताने वाले हैं ऐसी श्रद्धा बनायें और जब भी कोई संकट आये तो बस वही एक उपाय करें। सुनने में लग सकती है आपको यह बात कुछ असंगत सी कि भाई संसार ग्रस्त देवी देवताओं के पास जाने से तो यहां मानता करना भला, पर यह बात नहीं कह रहे हैं उसने तो यहाँ भगवान हो नहीं माना, किन्तु अपना कुल देवता माना है और इसलिये ऐसी भी श्रद्धा हो जाती है कि हमारे इस लड़के को तो महावीर स्वामी ने दिया है अमुक भगवान का प्रताप है अब सोचो प्रभु में कितने अवगुण की बात लगा रहें हैं ये सारी चीजें आत्म स्वरूप की दृष्टि में बाधा डालने वाली हैं जो-जो बातें निज सहज स्वरूप की दृष्टि में बाधा डालें, वे सब बाते अधर्म हैं।

लोक मूढ़ता में कितनी बातों को कहा जाये - सोमवती अमावसी मान दान करना, सूर्य चन्द्रमा के ग्रहण के निमित से स्नान करना, डाभ को शुद्ध मानना हस्ति के दांतों को शुद्ध मानना, कुवा पूजना, सूर्य चन्द्रमा को अर्घ देना देहली पूजना मूशल को पूजना, छींक को पूजना, गणेश को विनायक नामकर पूजना। तथा दीपक की ज्योति को पूजना, देवता की बोलारि बोलना। शीतला को पूजना, लक्ष्मी को पूजना, सोना चाँदी को पूजना, पशु को, अन्नको, जलको शस्त्र वृक्ष को पूजना अग्निको देव मान पूजना सो लोक मूढता है। सम्यग्दृष्टि इन सबके त्याज्य स्वभाव वाला है।

देखो यह त्रिसूल की पूजा कब से चली है एक पौराणिक घटना है कि कुछ चोर लोग चोरी करने जा रहे थे तो रास्ते

में कोई साधू ध्यान लगाये वैठा था तो वे चोर वहां यह वोली करके गये कि यदि चोरी में बहुत लाभ होगा तो आधी भेट आपको चढ़ायेंगें इतने में कोई सिंह वगैरह क्रूर जानवर आया और उसने साधू का भक्षण कर लिया, अव वहाँ कुछ नही रहा केवल साधू का त्रिसूल रह गया जव चोर लोग चोरी करके आये तो देखा कि साधू है नहीं अव धन किसे दें तो वहां तीन अंगुलियां पड़ी थीं उसी को आधा धन चढा दिया लो तवसे त्रिसूल की पूज्यता हो गई इस तरह अनेक लोक मूढ़तायें है।

अरे भैया ! धर्म तो अपने आत्मा को स्वभाव है चैतन्य मय भाव शुद्ध ज्ञाननंद स्वरूप उसका आश्रय करना सो धर्म है उसकी दृष्टि रखना है धर्म और अधर्म के व्यवहार की कसौटी केवल एक हैं कि जिस प्रवृत्ति में अपने आपकी ओर आने का मौका मिलता है वह प्रवृत्ति तो है धर्म और जिस प्रवृत्ति से हम आत्मा से और उलटे भाग जाते हैं वह है सव अधर्म । सम्य-ग्दृष्टि समस्त लोक मूढताओं से परे रहता है उसके तो अपने वारे में यह चिन्तन चलता है कि मैं सवसे विविक्त ज्ञानानंद स्वरूप हूं और समस्त पर जीवों को भी ऐसा ही विचारता है। वह अपने आपका महत्व भूलकर परपदार्थों को महत्व देता ही नहीं।

देव मूढ़ता:—

देव कुदेव के विचार रहित होय कामी, क्रोधी, शस्त्र धारी में ईश्वर पना की बुद्धि करना तथा जो यह भगवान परमेश्वर है, समस्त रचना इसकी है, यह ही सव का कर्ता हर्ता है समस्त अच्छा बुरा लोगों से ईश्वर ही कराता है सब ईश्वर की इच्छा के आधीन है इत्यादिक देवत्व के सम्बन्ध में मिथ्या धारणा होना सो देव मूढता है। अरे परमेश्वर तो शुद्ध

ज्ञान पुन्ज है महावीर के भव में जो शरीर से जुदे ज्ञानपुन्ज थे ऐसे वीतरागी सर्वज्ञ आत्मा परमेश्वर था कहाँ तो परमेश्वर का यह स्वरूप और कहाँ अज्ञानी जनों का रागी द्वेषी मोही देवों का सेवन करना। कुछ विवेक ही नहीं। सब जीव स्वयं स्वतंत्र रूप से अपने - २ कर्मों के अनुसार सुख दुःख भोगते हैं इसमें ईश्वर का क्या काम ? वे तो अपने ज्ञानानन्द स्वरूप में लीन हुये कृत्यकृत्य हैं। साता असाता वेदनीय कर्मानुसार सब सामग्री जुटती है और जीव सुख दुःख का वेदन करते हैं ईश्वर किसी पर का कुछ भी करने नहीं। क्षेत्रपालका पूजना पद्मावती चक्रेश्वरी आदि को पूजना तथा नदी, जल, पवन, अन्न को देव मानना सो सब देव मूढ़ता है सम्यग्दृष्टि जीव के ऐसी देव मूढ़-ता स्वप्न में भी होती नहीं। कहाँ तो काम क्रोधादिक विकारों से मलिन कुदेव औरकहां शुद्ध वीतराग ज्ञानके घनो निर्दोषदेव। ज्ञानी के सच्चे अरहन्त और सिद्ध देव का श्रद्धान होता है।

गुरु मूढ़ता:—

पाखन्डी, हीन आचार विचार के धारकतथा परिग्रही लोभी विषयन के लोलुपी को करामाती मानना, उसका वचन सिद्ध मानना, तथा ये प्रसन्न हो जायें तो हमारा वान्छित सिद्ध हो जाये, ये तपस्वी हैं, पूज्य हैं, महापुरूष हैं, पुराण हैं आदि गुरु के सम्बन्ध में विपरीत श्रद्धान करना सो गुरु मूढ़ता है।

जिनेन्द्रधर्म के श्रद्धान ज्ञानसे रहित होकर नाना प्रकार के भेष धारण करके स्वयं को ऊंचा मानकर दूसरे से जो पूजा, सत्कार चाहता है, आरम्भ परिग्रह रखता है, विषयों का रागी रहता है तथा युद्धशास्त्र, शृंगार के शास्त्र, राग के बढ़ाने वाले शास्त्रोंका उपदेशदेकरके आपकोमहन्त मानतेहैं वेपाखण्डीहैं। जो केवलज्ञान, ध्यान तप से अपनी शोभा मानते हैं और निर्ग्रन्थ हैं वे ही सच्चे गुरु हैं। सम्यग्दृष्टि जीव के यह गुरु मूढ़ता भी

होती नहीं।

सम्यग्दृष्टि के परिणामों में इन तीन प्रकार की मूढ़ता के भाव न होने से वह अमूढ़ और निर्मूढ रहता है।

इस प्रकार ८ शंका, कांक्षादि दोष, ८ मद दोष, ६ अनायतन और ३ मूढ़ता रूप जो २५ दोष हैं इन दोषों से रहित निर्दोष और परिपूर्ण सम्यग्दर्शन "विशुद्ध" होता है।

प्रशमादि गुण:—

यों इन समस्त दोषों से रहित सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा जगत के जीवों के कल्याण की भावनाके प्रसाद से धम का नेता बनता है ऐसे संत पुरूष में स्वभावत: ऐसी शान्ति आती है कि कोई अपराध भी करे, तुरन्त अपराध करे या पहिले अपराध किया हो तो तुरन्त क्षमा कर देता है ऐसा उसके स्वभावत: प्रशमगुण प्रगट होता है। वह जानता है कि यहा मेरा विरोधी कौन? मुझ से सब जगत के जीव भिन्न हैं। मेरा मैं ही विरोधी हूँ जब रागद्वेष में आता हूँ। और मेरा मैं ही मित्र हूँ जब मैं निज ज्ञानानन्द स्वरूप को देखता हूँ। ऐसे विचार से वह सब जीवों पर क्षमा भाव रखता है।

क्षमा वीर पुरूष ही कर सकते हैं, कायरों में क्षमा नहीं हो सकती। जैसे भोग का भोगना कायर पुरूषों का काम है और भोगों को छोड़ना वीर पुरूषों का काम है ऐसे ही थोड़े से प्रसंगों में क्रोध आ जाना कायर आत्म भावों का काम है और अपने में धैर्य रखना समभाव रखना यह वीरों का काम है। क्षमा से स्वयं को शान्ति प्राप्त होती है और दूसरे भी सुखी हो जाते हैं। क्षमा करने से स्वयं का लाभ तो है ही, दूसरे का लाभ हो या न हो। जिस का होनहार ठीक है उनमेंही क्षमा करने का भाव बनता है। क्षमावाणी के दिन तो प्रशम के कर्तव्य का दिन बन ही जाना चाहिये। कोई भी हो जो भी दिखे उससे गले मिलना चाहिये। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि में क्षमा का स्वभाव

(प्रशम) पड़ा हुआ है प्रशम के साथ ही उसके संवेग, आस्तिक्य, अनुकम्पा आदि सद्‌गुण प्रगट होते हैं।

धर्म में अनुराग, संसार से वैराग्य होना संवेग है यह तो सम्यग्दृष्टिमें होता ही है उसका स्वरूप ही है यह। सर्व जीवों में करुणा भाव होना यह कारुण्य है उसका, जो उसमें नैसर्गिक रूप से होता है। आस्तिक्य तो उसमें कूट कूटकर भरा हुआ ही है। वह किसी भी अज्ञानी, अपराधी में न राग करता है न द्वेष करता, किन्तु ज्ञाता दृष्टा रहता है अपना आनन्द अपने आपकी सम्हाल में पड़ा हुआ है बाहर कहीं नहीं हैं। जिसे अपने अन्तर की विभूति पर नाज है वह सबसे बड़ा वैभववान है जो दूसरों से बातें कर, उनसे कुछ चाहकर दीन बनता है वह तो दरिद्र है। यह सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष अपनी आत्मा को शुद्धि की प्रगति में ले जाता है और सम्पर्क में आयेहुये जीवों को भी उपकार का निमित्त होता है।

उपसंहार:—

ज्ञानी संत पुरुष लोक के कल्याण की भावना से ऐसा विशिष्ट पुण्य प्रकृति का बंधक होता है कि वह तीर्थंकर प्रकृति उदय में भी नहीं आ पाती, उससे ही पहिले देव और इन्द्रजन उसकी सेवा में तत्पर हो जाते हैं। ऐसी बात सुनकर यह भाव नहीं बनाना है कि मैं भी तीर्थंकर बनूं। बनेगा तो बिना मांगे ही, माँगने से नहीं। परिणाम होना चाहिये शुद्ध तत्व के दर्शन का और उस शुद्ध तत्व के आलम्बन के प्रसाद से समस्त संकटों से छूटने का। अपने आपकी करुणा करो। यह विश्व लुटेरी जगह है यहाँ किसी भी बाह्यतत्व में दृष्टि देकर शान्ति सन्तोष नहीं हो सकता। अपने अनन्त ज्ञान और आनन्द की निधि सुरक्षित करना, यह होगा अपने स्वरूप के परिचय से। ऐसा यह सम्यग्दृष्टि पुरुष विश्वके उपकारकी भावनाके प्रसाद से तीर्थंकर

प्रकृति का बंध करता है इस परिणाम को कहते हैं दर्शनविशुद्धि।

इस प्रकार यह 'दर्शनविशुद्धि' भावना तीर्थंकर प्रकृति के बंध का मूल कारण है और शेष विनय सम्पन्नतादिक १५ भावनाओं की शोभा इसके होने पर ही है। इस दर्शनविशुद्धि भावना की प्राप्ति का अधिकारी बनना इसी में हम आप सब जीवों का लाभ और हित है।

-: विनय सम्पन्नता :-

सोलह कारण भावनाओं में अभी तक 'दर्शन विशुद्धि' भावना की चर्चा की। अब विनय सम्पन्नता की बात चलेगी। विनय सम्पन्नता तीर्थंकर प्रकृति के बंध की कारण भूत भावनाओं में दूसरी पावन भावना है। विनय सम्पन्नता का अर्थ है कि अपनी आत्मा को विनय से अलंकृत किया जाये। उसे विनय से समृद्ध बनाना, विनय के भावों से ओतप्रोत रहना सो विनय सम्पन्नता है। यहाँ विनय सम्पन्नता को बात मोक्ष मार्ग के प्रसंग में कही जा रही है अतः प्रत्येक स्थल की विनय से यहाँ प्रयोजन न होकर मोक्षमार्ग के प्रसंग में जिनका सम्बन्ध है ऐसे विनीत भावों और धर्मात्माजनों की विनय करने से प्रयोजन है। आगम में विनय के ५ भेद कहे हैं। दर्शन विनय, ज्ञान विनय, चारित्र विनय, तप विनय और उपचार विनय।

दर्शन विनयः—

वस्तु स्वरूप के यथार्थ श्रद्धान में अपने आपको लगाना सो दर्शन विनय है। सर्व पदार्थों का स्वरूप जानकर सर्व से विविक्त अपने स्वतंत्र ज्ञानानन्द स्वभावी आत्मा को प्रतीति में लेना, आत्मा और पर का भेद विज्ञान का अनुभव करना सो दर्शन विनय है। इस चतुर्गति रूप संसार में दुःख पाने

वाले जीवों को यह सम्यग्दर्शन ही तारण हारा है। सम्यग्दर्शन को प्राप्त किये बिना अन्य कोई ऐसा उपाय नहीं कि हमें संकटों के मुक्ति मिल जाये। मुझ पर जितने भी संकट हैं वे सब भ्रम के कारण ही तो है इसलिये कहा है श्रीमद्‌रायचंद जी ने कि 'आत्मभ्रान्ति सम रोग नहि'। आत्मभ्रान्ति के कारण ये जीव अपने को नाना भावों रूप बनाता रहता है जब-कि उसकी सत्ता, इसका स्वरूप स्वयं स्वत: सिद्ध है और ज्ञाना-नन्द से रचा हुआ है ऐसी सत्स्वरूप अपनी आत्मा का अनुभव किये बिना ये परपदार्थ और परभावों से अपना सुख मानकर भ्रम रहा है और दुःखी हो रहा है सम्यक्त्व हो जाने पर सब विपरीत आशय टल जाते हैं, शुद्ध आशय बन जाता है और मैं शरीर, कर्म और औपाधिक भावों से निराला ज्ञानमात्र हूँ ऐसा अनुभव जिन ज्ञानी पुरुषों को होता है उनको यह बात ध्यान में आती है अहो सम्यकत्व निधि ही हमारा शरण है इस प्रकार सम्यग्दर्शन के प्रति विनय जगना सो दर्शन विनय है।

सम्यक्‌श्रद्धान में विनय होना यह भी एक भाव है और जिसके प्रति विनय की जा रही है वह भी एक भाव है। सो सम्यग्दर्शन के धारी जो सम्यग्दृष्टि जीव हैं उनका विनय करना भी इस दर्शनविनय में सम्मलित है पर मोक्षमार्ग के प्रकरण में प्रमुख से भावों का विनय भावों से किया जाये इसका प्रयोजन विशेष है- ऐसे सम्यकत्व के प्रति विनय का परिणाम रखने वाले पुरुष व्यवहार में- अर्थात् जब अन्य जीवों के प्रति कुछ व्यवहार करते हैं तो वहाँ सम्यग्दृष्टि पुरुषमें विनय भाव जगता है अहा! ये भी मोक्ष पथ के पथिक हमारे साथी हैं ऐसा उल्लास, ऐसी प्रीति होती ही है। देखो न जैसे आप कैराना से शामली पैदल जा रहे हों और रास्ते में दो तीन पैदल चलने वाले मुसाफिर मिल जायें आपके साथी, तो प्रीति हो जाती है, परस्पर में अनु-

राग का भाव जग जाता है इसी प्रकार मोक्षमार्ग में गमन करने वाले को अन्य मोक्षमार्गी मिल जायें तो प्रीति और विनय का भाव जगता ही है इस प्रकार सम्यग्दर्शन का विनय करना और सम्यग्दृष्टियों का विनय करना सो दर्शन विनय है।

इतना ही नहीं दर्शनविशुद्धि नामक प्रथम भावना में जो सम्यग्दर्शन के २५ शंकादिक दोष बताये उनको नहीं लगाना वे दोष न लग पायें ऐसे अपने ज्ञान श्रद्धान की सावधानी बनाना, उपयोग को सावधान रखना सो भी दर्शन विनय है अपनी आत्मा में मिथ्यात्व के भाव कभी न आने पायें, मिथ्यात्व के संस्कार जागृत न हो सकें इस प्रकार की सावधानी रूप चेष्टा दर्शन विनय है।

ज्ञान विनयः—

सम्यग्ज्ञान के आराधन में उद्यम करना, सम्यग्ज्ञान में ही आस्था रखना और सम्यग्ज्ञान के द्वारा ही सन्मार्ग मिलता है और सन्मार्ग से ही शान्ति मिल सकती है अन्य कोई कैसे भी भौतिक साधन जुटाये बिना सम्यग्ज्ञान के वे सब दुःख को ही बढाने वाले होंगे। अस्तु सम्यग्ज्ञान की उपासना में ही अपने जीवन को लगाने का भाव होना चाहिये। सम्यग्ज्ञान की कथनी में चर्चा में आदर करना, सम्यग्ज्ञान के प्रदायक जो जिनशास्त्र हैं उनमें आदर भाव रखना उन्हें पढना, पढाना, बांचना, जिनवाणी में निःशंक श्रद्धा बनाना, सो सब सम्यग्ज्ञान केसाधन हैं। ये ही मिथ्यामार्ग से हटाकर सम्यक् मोक्षमार्ग का निर्देश करते हैं ये सूर्य की तरह हमारे पथ प्रदर्शक हैं जिस प्रकार सूर्य के उदय होते ही अंधकार विलय हो जाता है उसी प्रकार जिन शास्त्रों के पठन पाठन श्रवण से हमारा अज्ञान, मोह अंधकार विलय जाता है। ऐसे सम्यग्ज्ञान के प्रति विनय जगना सो ज्ञान विनय है।

जो सम्यग्ज्ञान के धारी हैं जिन्होंने सम्यग्ज्ञान का अर्जन

क्रियाँ है ऐसे ज्ञानी संत पुरुषों के गुणों के कथन में उत्साहित होना, उनकी वंदना, स्तवन, आदर करना यह भी ज्ञान विनय है। ज्ञानी पुरुषोंकी विनय से अन्तर में ज्ञानका विकास होता है विनय से ही तत्व की सिद्धि और विद्या का लाभ संभव है।

राजगृही नगरी के राज्य शासन पर जिस समय श्रेणिक राजा विराजमान था उस समय उस नगरी में एक चान्डाल रहता था एक समय उस चान्डाल की स्त्री को गर्भ रहा। चान्डालिनी को आम खाने की इच्छा उत्पन्नहुई। उसने आम लाने के लिये चान्डाल से कहा। चान्डाल ने कहा यहआमों का मौसम नहीं, इसलिये मैं निरुपाय हूं। नहीं तो मैं आम चाहे कितने ही ऊँचे हों। वहीं से तुम्हें अपनी विद्या के वल से तोड़कर तेरी इच्छा पूर्ण करता। चान्डालिनी ने कहा, राजा की महारानी के वाग में एक असमय में फल देने वाला आम है। उसमें आम लगे होंगे। इसलिये आप वहां जाकर उन आमों को लावें। अपनी स्त्री की इच्छा पूर्ण करने को चान्डाल उस वाग में गया। चान्डाल ने गुप्तरीति से आम के समीप जाकर मंत्र पढ़कर वृक्ष को नमाया। और उस पर से आम तोड़ लिये। वाद में दूसरे मंत्र के द्वारा उसे जैसा का तैसा कर दिया। वाद में चान्डाल अपने घर आया। इस तरह अपनी स्त्रीकीइच्छाकी पूर्तिकरने के लिये वह चान्डाल विद्या के वल से वहां से आम लाने लगा। एक दिन फिरते-फिरते माली की दृष्टि आमों पर गई। आमों की चोरी हुई जानकर उसने श्रेणिक से सव हाल कहा। श्रेणिक की आज्ञा से अभयकुमार ने युक्ति के द्वारा उस चान्डाल को ढूंढ निकाला। चान्डाल को अपने आगे बुलाकर अभयकुमार ने पूंछा मनुष्यों के सामने तू किस रीति से पेड़ पर चढ़कर तोड़कर आम ले जाता है। चान्डाल ने कहा आप मेरा अपराध क्षमा करें। मैं सच-सच कहता हूँ। मेरे पास एक विद्या है उसके

प्रभाव से ग्राम तोड़ लेता। अभयकुमार ने कहा मैं स्वयं तो क्षमा नहीं कर सकता। परन्तु श्रेणिक महाराज को तू इस विद्या को देना स्वीकार करले तो उन्हें इस विद्या को लेने की अभिलाषा होने के कारण तेरे उपकार के वदले में मैं तेरा अपराध क्षमा करा सकता हूं। चान्डाल ने इस वात को स्वीकार कर लिया। तत्पश्चात् अभयकुमार ने चान्डाल को जहाँ श्रेणिक राजा सिंहासन पर वैठे थे वहाँ लाकर श्रेणिक के सामने खड़ा किया और राजा को सब वात कह सुनाई। इस वात को राजा ने स्वीकार किया। चान्डाल काँपते हुये, राजा को उस विद्या का वोध देने लगा। परन्तु वह वोध नही लगा। झट से खड़े होकर अभयकुमार वोले- महाराज यदि आपको यह विद्या अवश्य सीखनी है तो आप सामने आकर खड़े रहें और इसे सिंहासन दें। राजा ने विद्या लेने के लिये ऐसा किया तो विद्या तत्काल सिद्ध हो गई।

यह वात शिक्षा ग्रहण करने के लिये है। अस्तु सद्विद्या को सिद्ध करने के लिये विनयकरना आवश्यक है। आत्म विद्या पाने के लिये हमें गुरू का, मुनि का, विद्वान का, माता पिता का विनय करना चाहिये। विनय उत्तम वशीकरण है।

उत्तमज्ञान प्ररूपक शास्त्र, जिनागम सूत्रों की प्राप्ति यदि कहीं हो जाये तो उसमें अपार हर्ष होना आत्म विभोर होना यह सब ज्ञान विनय है। जैसे श्रीमद्रायचन्द्र जी केजीवन की घटना प्रसिद्ध है कि जिस समय उनकी दुकानपर कोई पुरुष समयसार शास्त्र लेकर पहुँचा और उसका वाचन करके उन्हें दिया तो उससे प्रफुल्लित होकर अपनी दुकान में जो कुछ हीरे, जवाहरात रखे हुये थे उन्हें मुट्ठी में भरकर दे दिये। आखिर यह ज्ञान विनय का ही तो उल्लास था। जिस शास्त्र से हमको ज्ञान प्राप्त होता है उस ग्रंथ के प्रति भी आदर जगना सो भी ज्ञान

विनय है। शास्त्रों का व्याख्यान करना, अनुवाद करना, लेखन करना, प्रकाशित कराना उनका प्रचार और प्रसार सर्वत्र होवे ऐसी प्रवृत्ति में उत्साहित होना सो सब ज्ञान विनय है। ज्ञान के साधनों की रक्षा बनाना यह भी ज्ञान विनय का अंग है। मंदिर में या शास्त्रों की संस्थाओं में जो शास्त्रों का संग्रह हो उसे व्यवस्थित ढंग से रखना सो सब ज्ञान विनय का ही रूप है। ऐसा ज्ञान विनय सम्पन्न अन्तरात्मा तीर्थंकर प्रकृति का बंध करके परिपूर्ण ज्ञान का धारी होता है।

चारित्र विनयः—

चारित्र विनय, विनय का तीसरा भेद है। अपनी शक्ति प्रमाण अणुव्रत महाव्रत रूप देश चारित्र और सकल चारित्र को धारण करना उसमें हर्ष और आनन्द मानना प्रतिदिन चारित्र की वृद्धि और उज्जवलता में पुरुषार्थ करना, विषय कषाय को घटाना सो सब चारित्र विनय है। चारित्र तो शुद्ध भाव रूप है वीतराग भाव रूप है। परन्तु उस वीतराग रूप चारित्र को धारण करने वाले जो चारित्रवन्त ज्ञानी संत हैं, मोक्षमार्गी है उनकी विनय करना, उनके गुणों में अनुराग होना उनकी स्तुति वंदना करना यह भी चारित्र विनय है।

जो जीव संसार के संकटों से छूटना चाहता है उसके उसी कार्य की धुन बनती है। वह अपने प्रयोजनभूत कार्य का चुनाव करेगा। सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यकचारित्र इन तीनों का एकत्व ही मोक्ष मार्ग हैं दुःख से छूटने का मार्ग है ऐसा जिसने अपनी प्रतीत्ति में लिया है उन पुरुषों को दर्शन ज्ञान और चारित्र के सम्बन्ध में अपना तन, मन, धन वचन जुटा देना कोई बड़ी बात नहीं हैं। विनयवान पुरुष ही धर्म के रहस्य को जान सकते हैं कठोर हृदय वाला अभिमानी

उन्मत्त पुरूप धर्म की राह ले सके यह सम्भव नहीं मोक्षमार्ग रूप शान्ति विनयसम्पन्न पुरूप को अनुभूति होता है अतः रत्नत्रय की विनय करके वह अपना कल्याण तो करता ही है दूसरों के हित में भी सहायक होता है ।

तप विनयः—

चौथी विनय है तप । इच्छा के रोकने को तप कहते हैं । विपय कपायों से अपनी इच्छाओं का निरोध करना और अतीन्द्रिय आनन्द का वेदना करना सो तप विनय है । जो ज्ञानी जीव अपनी इच्छाओं को रोकता है तो विपय से निवृत्त होने पर जो अवकाश मिलता है वह उसमें ध्यान स्वाध्याय आदि तपों में उद्यम करता है । ऐसा पुरूप तप का विनय करने वाला कहा जाता है । काम , कपाय के भाव जाग्रत न हों इस हेतु से अनशन , अवमोदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान रस परित्याग आदि तपों में अपना आदर रखना , इन्द्रिय विषयों को जीतना और संतोष भाव को धारण करना सब तप विनय के रूप हैं तपस्वी के शुद्ध आशय का होना आवश्यक है लोगों में ख्याति , पूजा के परिणाम से या कोई लौकिक लाभ की आकांक्षा से तप नहीं किया जाता परन्तु चारित्र की स्थिरता बड़े शान्ति मार्ग और मोक्ष मार्ग का परिचय हो । इसी ध्येय की पूर्तिके लिये अनशनादि १२ प्रकार के तपों में आस्था रखना , तदनुरूप अपना उद्यम करना सो सब तप विनय है । तप को धारण करने वाले पुरूषों का आदरसत्कार वंदना करना सो भी तप विनय है यह सब भावात्मक विनय की बात कही ।

उपचार विनयः—

अब उपचार विनय की बात सुनिये । दर्शन , ज्ञान ,

चारित्र और तप इन चार आराधनाओं का उपदेश कर जो मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति कराते हैं तथा जिनके स्मरण करने से अशुभ परिणाम दूर होकर विशुद्ध भाव बनते हैं ऐसे अरहंत सिद्ध आचार्य उपाध्याय और साधू इन पंच परमेष्ठियों के नाम की स्थापना का विनय वंदना स्तवन करना सो सब उपचार विनय है उनका स्मरण, वैयावृत्ति, संग करना उपचार विनय है।

यह उपचार विनय भी अभिमान छोड़े बिना नहीं हो सकता। जो मान कषाय से भरे रहते हैं उनको प्रभुमूर्ति के सामने झुकना भी कष्ट कारी लगता है। विनयवान पुरुष के तो प्राप्त ज्ञान आदि अष्ट मद का अभाव होता है। परिणामों की कठोरता वाले पुरुष के नम्रता कहां। विनयवान पुरुष तो अपना सत्यार्थ चिन्तन रखता है कि ये धन यौवन जीवन क्षणभंगुर हैं, कर्म के आधीन हैं। यहाँ कितने काल रहना है किसी वस्तु का सम्बन्ध स्थिर है नहीं अतः किसका घमंड करना किस पर इतराना? मुझ से किसी भी जीव को क्लेश न हो ऐसा अपना विनय रूप प्रवर्तन करना सो उपचार विनय है।

यहां इतनी बात ध्यान रखने योग्य है कि धनादि प्राप्ति के प्रयोजन से किसी की बड़ी विनय करना, नम्र बन कर बड़ा मुलायम व्यवहार करना सो यह उपचार विनय नहीं है परन्तु परमेष्ठियों से सम्बन्धित नाम के स्मरण में; समारोह में, किसी भी सम्बन्धित तत्व में अपना आदर रखना, सिर झुकाना, सद्वचन होना ये सब उपचार विनय है।

विनय धर्म ही मनुष्य जीवन का सार है। विनय से ही मन की उज्जवलता होती है। कहा हो है:"विनय महा धारे जो प्राणी, शिव वनिता की सखो बखानी"

विनय मोक्ष रूपी स्त्री से मिलानेके लिये सखीके समान

है। या जिस प्रकार अग्नि वृक्षों को जला देती है उसी प्रकार विनय संसार रूप वृक्ष के दग्ध करने को अग्नि तुल्य है। समस्त जिन शासन का मूल है विनय। विनय मिथ्याश्रद्धान को छेदने को मूल है। मान कषाय वाला जीव, कठोर परिणामी उदण्ड प्रवृत्ति वाला जीव इस लोक में भी दुःख और निन्दा को प्राप्त होता है और परलोक में भी तिर्यन्चादि गतियों में नाना प्रकार का दुःख भोगता है। अभिमानी पुरूष के सबलोग वैरी हो जाते हैं। अभिमानी के क्रोध कपट लोभ आदि दुर्गुण तो होते ही हैं, दुर्गुन में प्रवृत्ति होने से उसकी निन्दा और अपयश प्रगट होता है। मान कषाय में ही अनैतिक आचरण होता है। अतः इस जीव का बड़ा शत्रु मानकषाय ही है ऐसा जानकर विनय गुण में महान आदर करके अपने दोनों लोकों को उज्जवल करना चाहिये।

सच्चे देव अरहंत सिद्ध भगवान की मन, वचन, काय से प्रत्यक्ष रूप से व परोक्ष रूप से विनय करो। औरपरमार्थ विनय तो यह है कि जिन मोह, राग, द्वेष आदि भावों से आत्मा का घात् होता है उन भावों की उत्पत्ति न होवे। यह आत्मा अनादिकाल से इन रागादि भावों के कारण ही चतुर्गतिमें परिभ्रमण कर रहा है अब मेरा आत्मा मिथ्यात्व कषाय अविनयादिक कर संसार परिभ्रमण से बचे व जिस प्रकार से आत्मा के ज्ञानादिक गुणों का घात नहीं हो ऐसा प्रवर्तन करना सो आत्मा का विनय है, निश्चय विनय है।

भैया! विनय का अर्थ है नमना, झुकना सो यह ज्ञानी किसके प्रति नम रहा है कहाँ झुक रहा है जिससे बिछुड़ गया था उससे मिलने जा रहा है। जिस प्रकार गर्मी के दिनों में सन्तप्तता के कारण समुद्र का पानी भाप बनकर समुद्रसे बिछुड़ जाता है और कठोर बनकर ऊपर मंडराने लगता है। देखो इस

पानी को, जब तक यह पानी समुद्र में था द्रव, कोमल बनकर रह रहा था, ऐसा उसका स्वभाव था परन्तु वह जब अपने घर से बिछुड़ा और उड़कर आसमान में पहुचा तो कठोर बनकर ऊपर मंडराकर गर्व कर रहा है। और वही पानी जो बादलोंके रूप में कठोर बनकर मण्डरा रहा है, सुयोग पाकर नम्र बनजाये, द्रवीभूत हो जाये, यानि बरसने लगे तो यह पृथ्वी की सहतों में नीचे झुक-२ कर बह-२ कर उस ही समुद्र में मिल जाताहै, जहां से बिछुड़ गया था। इसी प्रकार यह मेरा उपयोगमेरे ज्ञानसमुद्र का स्वभाव से बिछुड़ गया। इच्छा के संतापसे तपने के कारण, यह अब आनन्द समुद्र से बिछुड़ गया। बाहर पहुंचा, बाह्य पदार्थों में गया, कठोर बन गया। यह उपयोग कठोर बनकर विषयों के साधन जुटाता है, पोजीशन सम्भालने में लगता है और नाना प्रकार की इच्छा कर-२ के मंडराता है। कभी सुयोगआये और यह तत्वज्ञान की ऋतु में, वातावरण में द्रवीभूत हो जाये और द्रवीभूत होने से अपने आपके श्रोत से निज घर से मिलने का यत्न होने लगे तो बरसता है अपनी ओर, नीचे ढालता है, नमता है, झुकता है यों नम्र होकर यह उपयोग अपने ज्ञानानन्द समुद्र में मिल जाता है अभिमानी पुरूप का अपने आत्म प्रभु से मिलन नहीं हो पाता। जैसे कठोर बादल आकाश में ही मंडराते भागते हैं टक्कर खाते हैं उनके नम्र हुये बिना समुद्र से मिलना होता ही नहीं। यों ही यह कठोर हृदय वाला अभिमानी गर्विष्ठ होकर, बाह्यपदार्थों में गिरकर, भागकर कठोर बनकर मंडराता है। जबतक नम्रता नआवेगी तबतक शान्ति और सन्तोपका मार्ग न मिलसकेगा विनय से सबकुछ मिलताहै जो नम्रबनता है, झुकता है वह सब कुछ प्राप्त कर लेता है और अविनयी को दुःखी ही रहना पड़ता है। एक घड़ा था उसके ऊपर एक तश्तरी ढकी हुई थी एक बार उस तश्तरी ने घड़े से कहा कि तुम हर एक की प्यास बुझाते हो परन्तु मेरी प्यास कभी नहीं

बुझाई। हालाँ कि मैं तुम्हारी रक्षा करती हूं। घड़े ने कहा मेरे अन्दर जो झुककर आता है वह पानी ले जाता है पर एक तुम हो जो सदा मेरे सिर पर चढ़ी रहती हो। इसी कारण तुम्हें जल नहीं मिलता। तुम्हारे में जल लेने की योग्यता ही नहीं। अतः झुकना सीखो, नम्र बनो, विनय सम्पन्न बनो तो सब कुछ प्राप्त हो सकता है और फिर भैया! यहाँ कुछ भी गर्व करने लायक है ही नहीं। स्वप्नवत यह संसार असार है जब शरीर की ही आशा नही तब अन्य पदार्थों से क्या आशा? अभिमान छोड़कर विनयशीलबनना, और अपने आप से मिलने के अर्थ अपने आपके स्वभाव की ओर झुकने रूप नम्रता आना सो विनय सम्पन्नता है। ऐसे विनय सम्पन्न पुरूष विश्व के प्राणियों में परम करूणा रूप भाव करने के प्रसाद से धर्म नेता बनते हैं।

मान कषाय की मन्दता से, उसके घटने से व्यवहार विनय होती है वह विनयी जीव अन्य जीव का अपमान न कर मिष्टवचन बोलकर, उठखड़ा होकर, हाथ को माथे चढ़ाकर आईये- २ इत्यादिक ३ वार कह कर बैठाता है, आसन देता है कुशलक्षेम पूछता है और भोजन पानादिक से सत्कार करता है। दुःखी मनुष्य तिर्यन्चों को विश्वास देना, दुःख श्रवण करना, अपने सामर्थ्य प्रमाण उपकार करना और इतना भी न बने तो धीरता, संतोषादिक का उपदेश देना सो सब व्यवहारविनय है। यहाँ तक कि मिथ्यादृष्टि, पापी, दुराचारी को भी तिरस्कार नहीं करना चाहिये। यहाँ तक तिर्यन्च तक का भी तिरस्कार नहीं करना, किसी की निन्दा अपमान नहीं करना सो व्यवहार विनय ही है।

इस मनुष्य जन्म का मंडन शोभा विनय से ही है। अहंकार जीवन को कठोर बनाता है और कठोरता टूटने

श्रा खन्डित हो जाने का दूसरा नाम है। व्यक्ति मैं की सुरक्षा में चारों ओर कितनी मजबूत दीवालें खड़ी कर रहा है। अहंकार पापाण हैं ऐसे पापाणों से घिरा उसका जीवन स्वयं पापाण बनता जा रहा है। जैसे सरिता में बबूला पैदा होता है और विनश जाता है ऐसे ही अहंकारी जीवन होता है। जीवन की सहज क्रान्ति इस अहंकार के विसर्जन और विनम्रता के सृजन में है। संत कनफ्यूसियस जब मरने लगे तो अपने प्रिय शिष्यों को बुलाया। शिष्यों ने समझा- आज कनफ्यूसियस का अंतिम दिन हैं और लगता है कि आज उनका अंतिम उपदेश होगा। क्योंकि मरण समय की बात जीवन के सम्पूर्ण अनुभव का निचोड़ हुआ करती है।

संत मौन थे - जब शिष्य काफी देर तक बैठे रहे तो एक शिष्य की ओर इशारा करते हुये बोले - बताओ कि जीभ पहिले जन्म लेती है कि दांत। सरल प्रश्न था। शिष्य इस सीधे पर रहस्यमय प्रश्न को सुन कर एक दूसरे की ओर झांकने लगे। शिष्य बोला कि मैं आपसे कुछ पूंछू यहाँ तक तो बात ठीक है, परन्तु आज स्वयं कुछ कहने के बजाय आप हम लोगों से ही पूंछने बैठ गये लेकिन पूंछा है तो उत्तर देता ही हूं जीभ पहिले जन्म लेती है और दाँत पीछे।

संत कनफ्यूसस का अंतिम प्रश्न था - और टूटता पहिले कौन है ? शिष्यों ने कहा दांत। संत बोले - बस यही मेरा अंतिम उपदेश है। इस राज को जान लो दांत बाद में आये और पहिले गये और जीभ शुरू से अन्त तक रही। इस संसार में जो भी दांत के समान कठोर बनकर आया वह पहिले गया और जो कोई जितना सरल और नम्रीभूत होकर जिया वह उतना ही ज्यादा जिया।

तो नम्रता से जीने में ही सार है इससे यह जीव इस

लोक और परलोक दोनों लोकों में सुखी रहता है। अतः मनुष्य जन्म की एक घड़ी भी विनय के बिना नहीं जावे ऐसी भावना रखना और अष्ट मदों के अभिमान को नहीं प्राप्त होना सो विनय सम्पन्नता नाम की दूसरी भावना है।

—: पर्यूषण गीत :—

आया है पर्यूषण प्यारा ॥ टेक ॥

वैर विरोध मिटाने वाला, शान्ति सुधा सरसाने वाला।
सदाचार सिखलाने वाला, सुपथ प्रदर्शक यही हमारा ॥१॥
आया है……

सबसे मैत्री भाव निभाना, विनयी बन जग को अपनाना।
अपना सरल स्वभाव बनाना, वहे सत्यकी निर्मल धारा ॥२॥
आया है……

लोभ त्याग निर्मलता भरना, इन्द्रिय मन को वश में करना।
जपतप कर भवपार उतरना, उत्तमत्याग महासुखकारा ॥३॥
आया है……

धन वैभव से ममता हटाना, सन्तोषी बन समय बिताना।
ब्रह्मचर्य को पूर्ण निभाना, है जीवन का एक सहारा ॥४॥
आया है……

इस विध दसधा धर्म मनावें, मनुष्य जन्म को सफल बनावें।
जैन धर्म जग में चमकावें, भव्य करें निज आत्म सुधारा ॥५॥
आया है……

बाहुबलि स्तुति

नाथ वाहुवलि, कर्म दलदल मली, नित्य ध्यायूं,
पुनि-पुनि चरणों में शीष नवाऊं ।।टेक।।

श्री ऋषभ जिनके तुम पुत्र प्यारे,
माँ सुनन्दा की आंखों के तारे ।
देह में अतुल वल, सुगुण भारी अमल, क्या गिनाऊं ।
पुनि-पुनि चरणों में········· ।।१।।

मान चक्री का तुम खंड कीना, युद्ध में आपने जीत लीना ।
जान जग को अथिर, छोड जंजाल घर, वन में पाऊं ।
पुनि-पुनि चरणों में········· ।।२।।

योग धारा कठिन वन में जाके विल वनाये पशु सुथिर पाके ।
वेल तन पर चढ़ीं, घास माटी अड़ी क्या वताऊं ।
पुनि-पुनि चरणों में········· ।।३।।

युद्ध में आपने नाम पाया, योग में भी प्रथम अंक पाया ।
चक्री पावों पड़े, हाथ जोड़े खड़े, क्षमा-चाहूँ ।
पुनि-पुनि चरणों में········· ।।४।।

शल्य हटते हुआ ज्ञान केवल, मोक्ष पाई सकल कर्म दल मल ।
भगवत् चरणों पड़ा, हाथ जोड़े खड़ा, सुगुण गाऊं ।
पुनि-पुनि चरणों में········· ।।५।।